

Printed by :—
Moolchand Kisondas Kapadia at his '*Jain Vijaya*'
printing press, near Khapatia chakla,
Laxminarayan's wadi—*Surat*.

Published by :—
Moolchand Kisondas Kapadia, Proprietor D. Jain
Poostakalaya & Hon: Editor, 'Digambar Jain,'
from Khapatia chakla, Chandawadi-Surat.



प्रस्तावना।



इस ग्रंथका पूर्वार्द्ध हम पहिली साल इसके मूलकर्ता पंडितप्रवर आशाधरजीके जीवनपरिचय सह ३५० पृष्ठोंमें प्रकट कर चुके है इसलिये यह इनका उत्तरार्द्ध है। ग्रन्थ बड़ा होनेसे और एक साथ इतनी बड़ी सहायता न मिलनेसे यह ग्रन्थ दो बारमें प्रकाश करना पड़ा इसके लिये हम पाठकोंकी क्षमा चाहते हैं। यदि पाठकगण इसे आद्यंत पढ़कर कुछ लाभ उठावेंगे तो हम अपना प्रकाश करनेका परिश्रम सफल समझेंगे।

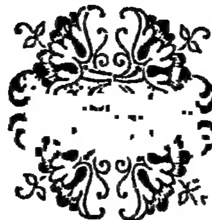
गत वर्षमें इसका पूर्वार्द्ध (२००० प्रतियाँ) सूरतनिवासी शाह किसनदास पूनमचंद कापड़ियाकी सौ० स्व० पत्नी (हमारी माता) हीराकोरबाई और भावनगरनिवासी शेठ मूलचंद गुलाबचंद अमरजी वागड़िया की ओरसे अपनी स्वर्गीय पुत्री संतोकके स्मरणार्थ "दिगंबर जैन" के ग्राहकोंको उपहार स्वरूप दिया गया था और यह उत्तरार्द्ध सूरतनिवासी सेठ डाह्याभाई रीखवदासजीके स्वर्गवासी पुत्र (और हमारे बंहिनाई) शाह छगनलालजी जो की सं. १९७१ में ४० वर्षकी आयुमें अपने वृद्ध पिताजी, बड़े बंधु मगनलालजी, विधवा मणीबाई, दो पुत्री और एक पुत्रको छोड़कर अकालमें स्वर्गवासी हुए थे उनके स्मरणार्थ उनके पिता सेठ डाह्याभाईकी ओरसे २०००) रुपया शुभ कार्योंके लिये निकाले गये थे उसमेंसे इस ग्रन्थकी २००० प्रतियाँ उपहार स्वरूप प्रकट करनेका खर्च दिया गया है जिससे यह ग्रन्थ शाह छगनलालजीके स्मर-

णार्थ, 'दिगंबर जैन' के ग्राहकोंको नववें वर्षका चौथा उपहार स्वरूप प्रकट किया जाता है।

अन्तमें हम विना दर्शाये नहीं रह सकते कि आजतक 'दिगंबर जैन' के ग्राहकोंको हनुमानचरित्र, श्रीपालचरित्र, जंबूस्वामीचरित्र, दशलक्षणधर्म, सागारधर्मामृत (पूर्वार्द्ध) आदि हिन्दी भाषाके जितने बड़े ग्रन्थों उपहार स्वरूप दे चुके हैं वह सब गुजरातके भाईयोंकी सहायतासेही प्रकट हुए है परंतु खेद है कि हमारे हिन्दी पाठकोंका ध्यान ऐसे शास्त्रदानकी ओर अबतक नहीं झुका है इसलिये हमें आशा है कि अब तो ऐसे शास्त्रदानका अनुकरण हमारे हिन्दी पाठकों भी अवश्य करेंगे।

वीर निर्वाण सं. २४४२
ज्येष्ठ शुक्ल ७ सं. १९७२
ता. ८-६-१६

जैनजातिका सेवक-
मूलचन्द किसनदास कापड़िया-सूरत।



विषयानुक्रमणिका ।

विषय.	पृष्ठ.	श्लोक.
पांचवां अध्याय.		

छट्ठा अध्याय।

सातवां अध्याय.

आठवां अध्याय.

शुद्धिपत्र ।



पृष्ठ ।	पंक्ति ।	अशुद्ध ।	शुद्ध ।
३१६	१४	मीमा	सीमाके
३२३	२१	हिंसादी	हिंसादि
३२४	१५	वस्त्र	वस्त्र
३२५	५	तांवुल	तांबूल
३२९	१८	अंकुरें	अंकुरे
३४०	७	रहनेको	रहनेका
३४०	१९	खरकर्भों	खरकर्मों
३४१	१०	प्रोपधोप्रवास	प्रोषधोपवास
३५७	४	आलस्य	आलस्यको छोडकर स्वाध्यायमें लीन होते हुये उस रात्रिको
३५८	८	व्रत	व्रते
३६३	१२	जव	सब
,,	१३	यत्नपूर्व	यत्नपूर्वक
,,	१८	शुद्धत्रुक्त	शुध्द्युक्त
३६८	१०	दिखलासे	दिखलाते
३६९	४	जंध	जंघ
,,	९	पुप्य	पुण्य
,,	१०	,,	,,
३७२	८	भेरे	मेरे
,,	१६	सचित्ताविघान	सचित्तापिधान
३७४	६	दीत्या	दीरया
,,	१७	ऐषणा	एषणा
३७५	१६	ततर	तत्पर
३८८	१७	इंसी	इसी

पृष्ठ।	पंक्ति।	अशुद्ध।	शुद्ध
,,	२२	शुद्ध	शुध्य
३८९	६	दाक्षिण्य	दाक्षिण्या
३९०	६	व्यौत	धौत
,,	२०	स्वपनं	स्नपनं
३९१	२	रत्र	रत्न
३९४	२३	अग	अंग
४००	२०	पावन्न	यावन्न
४०१	१६	वुद्धो	वद्धो
४०३	१५	पैराग्ये	वैराग्ये
४०४	२०	चुति	स्तुति
४०६	९	आ	आः
४१२	१९	समता वृद्धिसे	समता वुद्धिसे
,,	१८	उद्धप्यमाणस्य	उद्धृप्यमाणस्य
४१७	९	किसी	किस
४१९	१३	उठाकर	वस्त्र उठाकर
४२४	१८	प्रणाम	प्रमाण
४२५	१६	वीजानी	वीजानि
४२६	२०	स्त्रीयां	स्त्रियां
,,	२१	सुचीत	सूचित
४२८	४	निच्यते	निरुच्यते
४२८	१९	रात्री	रात्रि
४३३	१६	राजान्यादुद्ध	राजन्यादुद्ध
,,	२१	व्रह्म	ब्रह्म
४३४	१५	प्रोदग्रताद्धं	प्रातऋद्धि
४३६	११	रावा	रचा
४३८	१५	सुनिधि	सुविधि
४३९	३	श्रीवृपभदेवके	श्रीवृपभदेव
४४८	१	क्षीर	क्षिर
४५८	१०	शर्न्की	शार्ङ्गि

पृष्ठ।	पंक्ति।	अशुद्ध।	शुद्ध।
४५९	४	मुनियों	मुनियां
४६०	१८	जिनमुद्रा	जिनमुद्रा
४६३	६	रोगित:	रोगत:
४६४	१६	करनेवाले	करनेवालेके
४६५	६	ह	है
४६८	९	सभाधि	समाधि
४७४	८	सल्लेखना	सल्लेखनाऽ
४७५	१०	हैं	है
४७७	३	कनेरकी	करनेकी
४७९	१९	सर्वं	सर्वं
४७९	२०	विहरे पथि	विहरेत्पथि
४८१	६	उत्पान	उत्थान
४८८	५	चक्रवर्ति	चक्रवर्ती
४९०	९	पुद्लग	पुद्गल
४९५	१३	आत्माके	आत्माको
४९७	१३	रत्नं	रत्नं
४९९	१३	तृष्णा	तृष्णा
५०२	१२	अंतकरण	अंत:करण
५०३	७	मिथ्यादृष्टि	मिथ्यादृष्टी
५१९	१	महिने	महीने
५१९	६	भुदाशु	भूदाशु
५२०	१	सर्वार्थ	सर्वार्थसिद्धि
५२२	१९	नज्ञा	ज्ञान
५२३	१०	से कारण ए	कारण ऐसे
५२९	१९	अर्जुनदेव	अर्जुनदेवको
५३३	९	याक्रि	क्रिया
५३४	२१	नदतु	नंदतु
५३४	२३	मलीभदे	मलभिदे



स्वर्गवासी शाह छगनलाल डाह्याभाई–सूरत.

जन्म सं. १९३१, मृत्यु सं. १९७१.

"जैन विजय" प्रेस–सूरत.

॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥

श्रीमत्पंडितप्रवर आशाधर विरचित

सागारधर्मामृत।

पांचवां अध्याय।



आगे—सातों शीलोंके व्याख्यान करनेकी इच्छासे उनके भेद गुणव्रतोंको पहिले कहते हैं—

यद्गुणायोपकारायाणुव्रतानां व्रतानि तत्।
गुणव्रतानि त्रीण्याहु दिग्विरत्यादिकान्यपि ॥ १ ॥

अर्थ—दिग्विरति, अनर्थदंडविरति, और भोगोपभोग परिमाण ये तीनों ही व्रत अणुव्रतोंके उपकार करनेवाले हैं इसलिये इन तीनोंको स्वामी समंतभद्राचार्यके अनुयायी लोग गुणव्रत कहते हैं। अपि शब्दसे श्वेतांबरोंके कहे हुये खरकर्म सूचित किये हैं ॥ १ ॥

आगे—उन गुणव्रतोंमें दिग्व्रतका लक्षण कहते हैं—

यत्प्रसिद्धैरभिज्ञानैः कृत्वा दिक्षु दशस्वपि।
नात्येत्यणुव्रती सीमां तत्स्याद्दिग्विरतिर्व्रतं ॥ २ ॥

अर्थ—जो अणुव्रती श्रावक व्रत देनेवाले और लेनेवाले दोनों-को अच्छी तरह मालूम हैं ऐसे प्रसिद्ध समुद्र, नदी, पर्वत आदि चिन्होंसे दशों दिशाओंमें अथवा अपि शब्दसे एक दो चार आदि दिशाओंमें जन्मपर्यंत अथवा किसी नियमित थोड़े काल पर्यंत मर्यादा करके नियमित कालतक उसका उल्लंघन नहीं करता उसको दिग्विरति गुणव्रत अर्थात् नियमित सीमाके बाहर आने जानेका त्याग कहते हैं। श्लोकमें जो व्रत शब्द दिया है उससे गुणव्रत समझना चाहिये क्योंकि भीम आदि नामका एक देश कहनेपर भी पूरा नाम समझ लिया जाता है। अणुव्रती कहनेसे यह अभिप्राय है कि यह दिग्व्रत अणुव्रतियोंके ही हो सकता है महाव्रतियोंके नहीं। क्योंकि महाव्रती समस्त आरंभ और परिग्रहके त्यागी होते हैं तथा समिति पालन करनेमें सदा तत्पर रहते हैं इसलिये वे ईर्या-समितिसे मनुष्यलोकमें इच्छानुसार विहार करते हैं इसप्रकार उनके दिग्व्रत हो ही नहीं सकता ॥ २ ॥

आगे—दिग्विरतिव्रतसे अणुव्रतीके भी महाव्रत होता है ऐसा उपपादन करते हैं—

> दिग्विरत्या बहिः सीम्नः सर्वपापनिवर्तनात् ।
> तप्तायोगोलकल्पोऽपि जायते यतिवद्गृही ॥ ३ ॥

अर्थ—यद्यपि गृहस्थ श्रावक गर्म किये हुये लोहेके पिंडके समान है अर्थात् जैसे गर्म लोहेके पिंडके हिलने मात्रसे सहज हिंसा होती है उसी प्रकार गृही श्रावक भी आरंभ और परिग्रह सहित होनेसे गमन भोजन शयन आदि क्रियाओंमें जीवोंका घात

करनेवाला है, अर्थात् उससे सब क्रियाओंमें थोड़ी बहुत हिंसा होती ही है तथापि दिग्विरति गुणव्रतके निमित्तसे की हुई मर्यादाके बाहर सबप्रकारकी स्थूल सूक्ष्म हिंसा और भोगोपभोग आदि सबतरहके पापोंका त्याग कर देनेसे वह श्रावक महाव्रतीके समान हो जाता है। भावार्थ—की हुई मर्यादाके बाहर दिग्व्रती भी महाव्रतीके समान है ॥ ३ ॥

आगे—इसी विषयको निश्चय करते हुये कहते हैं—

दिग्व्रतोद्रिक्तवृत्तघ्नकषायोदयमांद्यतः ।
महाव्रतायतेऽलक्ष्यमोहे गेहिन्यणुव्रतं ॥ ४ ॥

अर्थ—दिग्व्रत धारण करनेसे सकल चारित्रका नाश करनेवाले प्रत्याख्यानावरण संबंधी क्रोध, मान, माया, लोभरूप कषायोंका उदय मंद हो जाता है। इसलिये अर्थात् कषायोंका उदय मंद होजानेसे जिसके प्रत्याख्यानावरणरूप चारित्रमोहनीय परिणामोंके सद्भावका निश्चय नहीं कर सकते अर्थात् अत्यंत सूक्ष्म होनेसे जाने नहीं जा सकते ऐसे गृहस्थके होनेवाले अणुव्रत नियमित मर्यादाके बाहर सबतरहके पाप सहित योगोंका त्याग कर देनेसे महाव्रतके समान हो जाते हैं, अर्थात् उपचारसे महाव्रत हो जाते हैं, साक्षात् महाव्रत नहीं होते। क्योंकि उसके महाव्रतोंको घात करनेवाले प्रत्याख्यानावरण कषायके उदयका सद्भाव मौजूद है ॥ ४ ॥

आगे—दिग्व्रतके अतिचार कहते हैं—

सीमविस्मृतिरूर्ध्वाधस्तिर्यग्भागव्यतिक्रमाः ।
अज्ञानतः प्रमादाद्वा क्षेत्रवृद्धिश्च तन्मलाः॥ ५ ॥

अर्थ—अज्ञानसे अथवा प्रमादसे सीमाकी विस्मृति होना, ऊर्द्धवभागव्यतिक्रम, अधोभागव्यतिक्रम, तिर्यग्भागव्यतिक्रम और क्षेत्रवृद्धि ये पांच दिग्विरति गुणव्रतके अतिचार हैं।

सीमाकी विस्मृति—मंद बुद्धिका होना अथवा कोई संदेह आदि हो जाना अज्ञान कहलाता है। अत्यंत व्याकुल होना अथवा चित्तका किसी दूसरी ओर लग जाना प्रमाद है। अज्ञान अथवा प्रमादसे नियमित की हुई मर्यादाको भूलजाना सीमाकी विस्मृति है। जैसे किसी श्रावकने पूर्व दिशाकी ओर सौ योजनका परिमाण किया था, कारणवश उसे पूर्व दिशाकी ओर जानेका काम पड़ा, परंतु नियमित मर्यादाके स्मरण न रहनेसे "मैंने सौ योजनकी मर्यादा की थी अथवा पचास योजनकी ?" ऐसी कल्पना करता हुआ यदि वह पचास योजनके आगे जायगा तो उसे अतिचार होगा और यदि वह सौ योजन के आगे जायगा तो उसके व्रतका भंग हो जायगा। इसलिये सीमा विस्मरणमें व्रतकी अपेक्षा और निरपेक्षा दोनों ही होनेसे वह प्रथम अतिचार होता है।

पर्वत वृक्ष आदि ऊंचे प्रदेशोंकी नियमित मर्यादाका उल्लंघन करना ऊर्द्धवभागव्यतिक्रम है। तलघर, कूआ, बावड़ी आदि नीचेके भागकी की हुई मर्यादाका उल्लंघन करना अधोभागव्यतिक्रम है। पूर्व पश्चिम आदि दिशाओंकी नियत की हुई मर्यादाका उल्लंघन करना तिर्यग्भागव्यतिक्रम है। इन तीनों मर्यादाओंका उल्लंघन यदि केवल मनसे ही किया गया हो साक्षात् स्वयं जाकर मर्यादाका उल्लंघन न किया गया हो तो ये अतिचार माने जाते हैं, यदि

स्वयं जाकर साक्षात् मर्यादाका उल्लंघन किया गया हो तो फिर भंग ही हो जाता है ।

दिग्विरति गुणव्रतमें नियत की हुई मर्यादाको पश्चिम आदि दिशासे घटाकर पूर्व आदि दिशाकी ओर बढ़ा लेना क्षेत्रवृद्धि है । जैसे किसी पुरुषने पूर्व और पश्चिमकी ओर सौ सौ योजनकी मर्यादा की, कारणवश उसे पूर्वकी ओर सौ योजनसे अधिक जानेका काम पड़ा, उस समय उसने पश्चिमकी ओरसे कुछ योजन घटाकर पूर्वकी ओर मिला लिये, ऐसे समय दोनों ओर दोसौ योजनकी मर्यादा होनेसे व्रतका अभंग और पूर्वकी ओर नियमित मर्यादाका उल्लंघन करनेसे व्रतका भंग इसप्रकार भंग अभंग होनेसे अतिचार होता है। यदि असावधानीसे क्षेत्रकी मर्यादाका उल्लंघन हो गया हो तो वहांसे फिर वापिस लौट आना चाहिये, अथवा यदि नियत की हुई मर्यादा मालूम हो तो उसके बाहर जाना ही नहीं चाहिये और न अन्य किसीको भेजना चाहिये। कदाचित् कोई अज्ञानसे नियत की हुई मर्यादाके बाहर चला भी गया हो तो वहां जो कुछ उसे प्राप्त हुआ हो वह छोड़ देना चाहिये। इस प्रकार पांचवें अतिचारका स्वरूप जानना ॥५॥

आगे—अनर्थदंडव्रतका लक्षण कहते हैं—

पीडा पापोपदेशाद्यैर्देहाद्यर्थाद्विनांगिनां ।
अनर्थदंडस्तत्त्यागोऽनर्थदंडव्रतं मतं ॥६॥

अर्थ—अपने अथवा अपने लोगोंके शरीर वचन और मनके प्रयोजनके विना पापोपदेश, हिंसादान, दुःश्रुति, अपध्यान और

प्रमादचर्या इन पांचों अनर्थदंडोंके व्यापारसे त्रस और स्थावर जीवोंको पीड़ा देना अनर्थदंड है और उसके त्याग करनेको आचार्य लोग अनर्थदंडव्रत कहते हैं ॥६॥

आगे—पापोपदेशका स्वरूप कहकर उसके त्याग करनेको कहते हैं—

पापोपदेशो यद्वाक्यं हिंसाकृष्यादिसंश्रयं ।
तज्जीविभ्यो न तं दद्यान्नापि गोष्ठ्यां प्रसंजयेत् ॥७॥

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी आदि तथा खेती व्यापार आदि-से संबंध रखनेवाले वाक्योंको पापोपदेश कहते हैं। हिंसा चोरी खेती आदिसे उदर निर्वाह करनेवाले व्याध, ठग, चोर, किसान, भील आदि लोगोंको हिंसा झूठ चोरी आदिसे संबंध रखनेवाला पापोपदेश कभी नहीं देना चाहिये और न हिंसा झूठ चोरी खेती आदि संबंधी कथायें कहकर उनका मन हिंसा आदिकी ओर लगाना चाहिये। जैसे किसी व्याधको बैठा देखकर ऐसा नहीं कहना चाहिये कि "अरे ! तू क्यों बैठा है ? आज बहुतसे हिरण पानी पीनेके लिये तलावपर आये हैं।" क्योंकि ऐसा कहनेसे उस व्याधको हिंसा करनेमें प्रवर्त किया ऐसा समझा जाता है और उससे अपना कुछ लाभ नहीं होता। तथा इसी तरह हिंसा करनेवाले खेती व्यापार संबंधी वाक्य भी किसान व्यापारी आदिकोंको नहीं कहना चाहिये।

इस श्लोकके दूसरे चरणका "हिंसाद्यारंभसंश्रयं" ऐसा भी पाठ है और उसका यह अर्थ है कि "जिनमें हिंसा, झूठ, चोरी आदि प्रधान हैं ऐसे आरंभ संबंधी वाक्य भी पापोपदेश है ॥७॥

आगे—हिंसोपकरणदान अर्थात् हिंसाके कारण शस्त्र आदि उपकरणोंके देनेका निषेध करते हैं—

हिंसादानं विषास्त्रादि हिंसांगस्पर्शनं त्यजेत् ।
पाकाद्यर्थं च नाग्न्यादि दाक्षिण्याविषयेऽर्पयेत् ॥८॥

अर्थ—अनर्थदंडव्रत धारण करनेवाले श्रावकको प्राणियोंकी हिंसा करनेके कारण ऐसे विष, अस्त्र, हल, गाडी, कुसा, कुल्हाडी, तलवार आदि हिंसा करनेके साधनोंको नहीं देना चाहिये। तथा जिन लोगोंसे परस्पर कभी व्यवहार नहीं होता ऐसे मनुष्योंको पकाने पीसने कूटने आदिके लिये अग्नि, चक्की, मूसल, उलूखल आदि पदार्थ नहीं देना चाहिये ॥८॥

आगे—दुःश्रुति और अपध्यान इन दोनोंका स्वरूप और दोनोंको त्याग करनेके लिये कहते हैं—

चित्तकालुष्यकृत्कामहिंसाद्यर्थश्रुतश्रुतिं ।
न दुःश्रुतिमपध्यानं नार्त्तरौद्रात्म चान्वियात् ॥९॥

अर्थ—अनर्थदंडव्रत धारण करनेवाले श्रावकको चित्तमें राग द्वेष आदि कलुषता करनेवाले कामशास्त्र, हिंसाशास्त्र, और आरंभशास्त्र आदि कुशास्त्रोंके सुननेका त्याग कर देना चाहिये। यदि प्रसंगानुसार ऐसे शास्त्र सुनाई भी पड जायं तो उसी समय वहांसे हट जाना चाहिये या किसी तरह उनका सुनना बंद कर देना चाहिये। वात्सायन भाष्य आदि ग्रंथोंको कामशास्त्र, वक प्रणीत शास्त्रोंको (जैमिनीय सूत्रोंको) हिंसाशास्त्र और परिग्रह जीविका आदिको प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रोंको तथा दंडनीति आदि शास्त्रोंको आरंभ-

शास्त्र वा परिग्रहशास्त्र कहते हैं। शूरवीरोंकी कथाओंको साहस-शास्त्र, ब्रह्माद्वैत आदि मतोंके शास्त्रोंको मिथ्यात्वशास्त्र, "वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः" अर्थात् "सब वर्णोंमें ब्राह्मण ही गुरु है" ऐसे वाक्य कहनेवाले शास्त्रोंको मदशास्त्र, और वशीकरण आदि प्रति-पादन करनेवाले शास्त्रोंको रागशास्त्र कहते हैं। अनर्थदंडव्रती श्राव-कको इन सबके सुननेका त्याग कर देना चाहिये, क्योंकि इन सबके सुननेसे चित्तमें राग द्वेष उत्पन्न होता है। तथा इसीप्रकार आर्तध्यान और रौद्रध्यानरूप अपध्यानोंको अर्थात बुरे चिंतवनोंको भी नहीं करना चाहिये। दुःख और पीड़ामें होनेवाले चिंतवनको आर्तध्यान कहते हैं। दूसरेको रुलानेवाले अथवा दुःख देनेवाले चिंतवनको रौद्रध्यान कहते हैं। इन दुःश्रुति और अपध्यानोंसे अपना कुछ प्रयोजन न निकलकर केवल पापबंध होता है इसलिये ये दोनों ही सर्वथा त्याज्य हैं।

इस श्लोकमें "न दुःश्रुतिमपध्यानमार्तरौद्रात्मचान्वियात्" ऐसा भी पाठ है और उसका यह अर्थ है कि कामशास्त्र आदि कुशास्त्रोंके सुननेरूप दुःश्रुति कभी नहीं सुननी चाहिये। दूसरेका बुरा चिंतवन करनेरूप अपध्यान नहीं करना चाहिये तथा मैं राजा होऊं, विद्याधर होऊं, मुझे देवांगना और विद्याधरियोंके भोग प्राप्त हो इत्यादि आर्तध्यान और शत्रुका घात करना, अग्नि लगाना आदि रौद्रध्यान कभी नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—कुशास्त्रोंको कभी नहीं सुनना चाहिये, तथा अपध्यान, आर्तध्यान और रौद्रध्यान कभी नहीं करना चाहिये॥९॥

आगे—दो श्लोकोंमें प्रमादचर्याका स्वरूप कहकर उसके त्याग करनेको कहते हैं—

प्रमादचर्यां विफलं क्ष्मानिलाग्न्यंबुभूरुहां ।
खातव्याघातविध्यापसेकच्छेदादि नाचरेत् ॥ १० ॥

अर्थ—अनर्थदंडविरती श्रावकको विना प्रयोजन पृथ्वीका खोदना आदि प्रमादचर्या नहीं करना चाहिये, अर्थात् विना प्रयोजन पृथ्वीको खोदना नहीं चाहिये, विना प्रयोजन वायुका व्याघात अथवा विना प्रयोजन किवाड आदिसे उसका प्रतिबंध (रुकावट) नहीं करना चाहिये, विना प्रयोजन अग्निको जल आदिसे बुझाना नहीं चाहिये, विना प्रयोजन जलसे सींचना वा जल फैलाना आदि नहीं चाहिये, और न विना प्रयोजन वृक्षोंको काटना, वा फल पुष्प आदि तोड़ना चाहिये ॥ १० ॥

तद्वच्च न सरेद्व्यर्थं न परं सारयेन्महीं ।
जीवघ्नजीवान् स्वीकुर्यान्मार्जारशुनकादिकान् ॥ ११ ॥

अर्थ—व्रती श्रावक जिसप्रकारका विना प्रयोजन पृथ्वीका खोदना आदि व्यापार नहीं करता है उसी प्रकार उसे हाथ पैर आदिको हिलाना नहीं चाहिये और न विना प्रयोजन किसी नौकर चाकर आदिसे हिलवाना चाहिये। इसी प्रकार अन्य जीवोंको घात करनेवाले बिल्ली कुत्ता न्योला मुर्गा आदि जीवोंको भी नहीं पालना चाहिये। इन जीवोंको तो कुछ प्रयोजन होते हुये भी नियमसे नहीं पालना चाहिये ॥ ११ ॥

आगे—अनर्थदंडव्रतके अतिचार त्याग कराते हैं—

मुंचेत्कंदर्पकौत्कुच्यमौखर्याणि तदत्ययान् ।
असमीक्ष्याधिकरणं सेव्यार्थाधिकतामपि ॥ १२ ॥

अर्थ—अनर्थदंडव्रती श्रावकको कंदर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और सेव्यार्थाधिक्ता इन पांचों अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिये ।

रागकी उद्रेकतासे हास्यमें मिले हुये अशिष्ट वचनोंको कंदर्प कहते हैं । कंदर्प नाम कामका है जो काम उत्पन्न करनेके कारण हैं अथवा जिनमें काम ही प्रधान है ऐसे वाक्य कहनेको भी कंदर्प कहते हैं । हास्य और भंड वचन सहित भौंह, नेत्र, ओठ, नाक, हाथ, पैर और मुख आदिके कुत्सित (नीच) विकारोंको कौत्कुच्य कहते हैं । कंदर्प और कौत्कुच्य ये दोनों ही प्रमादचर्या त्यागके अतिचार हैं । धृष्टतापूर्वक विचाररहित असत्य और संबंधरहित बहुत बोलनेको मौखर्य कहते हैं । यह पापोपदेशत्यागका अतिचार है, क्योंकि मुखर मनुष्यसे पापोपदेश होना संभव है । अपने प्रयोजनका कुछ विचार न कर प्रयोजनसे अधिक कार्य करना असमीक्ष्याधिकरण है जैसे किसीको कहना कि " तू बहुतसी चटाइयां ले आ, जितनी मुझे चाहिये उतनी मैं खरीद लूंगा, जो बाकी बचेंगी उनके और बहुतसे ग्राहक हैं वे भी खरीद लेंगे, मैं बिकवादूंगा " इत्यादि कहकर विना विचारे चटाई आदि बुननेवालोंसे बहुतसा आरंभ वा हिंसा कराना तथा इसीप्रकार लकड़ी काटनेवाले अथवा ईंट पकानेवालोंसे भी अधिक हिंसा कराना तथा हिंसाके उपकरणोंको उसके दूसरे उपकरणोंके साथ वा समीप

रखना, जैसे ओखलीके पास मूसल रखना, हलके पास उसका फाला रखना, गाडीके पास उसका जूआ रखना, और धनुषके पास बाण रखना आदि । ये सब असमीक्ष्याधिकरण हैं । क्योंकि जब ये हिंसाके उपकरण समीप समीप रक्खे रहेंगे तो हरकोई मनुष्य इनसे धान्य कूटना आदि हिंसाके कार्य कर सकता है । यदि ये अलग अलग रक्खे होंगे तो सहज ही दूसरेको निषेध किया जा सकता है । इसप्रकार यह असमीक्ष्याधिकरण हिंसादान त्यागका अतिचार होता है । भोगोपभोगोंके कारणभूत पदार्थोंको अपने प्रयोजनसे अधिक संपादन करनेको सेव्यार्थाधिकता अथवा भोगोपभोगानर्थक्य कहते हैं । जैसे तेल खली (मुलतानी मिट्टी) आंवले आदि स्नान करनेके साधन साथमें बहुतसे ले लिये जायं तो उस तेल खली आदिके लोभसे अनेक मित्र, मित्रोंके मित्र आदि बहुतसे लोग स्नान करनेके लिये तालावपर जानेको साथ हो लेते हैं, वे सब तेल मर्दनादि कर खूब स्नान करते हैं जिससे कि जलकायक जीवोंकी बहुत हिंसा होती है और वह सब हिंसा तेल आदि पदार्थ ले जानेवालोंको लगती है । इसलिये ऐसा न करके अपने घर ही स्नान करना चाहिये । कदाचित् घरपर स्नान न हो सके तो शिरमें तेल डालना आदि अन्य सब कामोंको घरपर ही पूरा कर तालाब आदिके किनारे बैठकर छने हुये जलको हाथोंमें ले लेकर स्नान करना चाहिये । इसीप्रकार जिन जिन कामोंसे हिंसादी पापोंका संबंध होना संभव हो उन सब क्रियाओंको छोड़ देना चाहिये । जिन जिन फूल पत्ते

आदिसे संबंध होना संभव हो उन्हें भी छोड़ देना चाहिये यह छट्ठा प्रमादचर्यात्यागका अतिचार है ॥१२॥

आगे—भोगोपभोग परिमाण नामके तीसरे गुणव्रतको धारण करनेकी विधि कहते हैं—

> भोगोयमियान् सेव्यः समयमियंतं नचोपभोगोऽपि ।
> इति परिमायानिच्छंस्तावधिकौ तत्प्रमाव्रतं श्रयतु ॥१३॥

अर्थ—गुणव्रती श्रावकको विधिमुख अथवा निषेधमुखसे भोगोपभोगोंका त्याग करना चाहिये। 'मैं इस पदार्थको इतने दिनतक सेवन नहीं करूंगा' यह निषेधमुख है, तथा "मैं इस पदार्थको इतने समयतक सेवन करूंगा" यह विधिमुख है। जैसे मैं माला पान आदि भोग करने योग्य वस्तुओंको एक दिन वा एक महीना आदि किसी नियमित कालतक अथवा जन्मपर्यंत सेवन नहीं करूंगा अथवा मैं माला पान आदि भोग करने योग्य वस्तुओंको एक दिन वा एक महीना पर्यंत सेवन करूंगा। इसीप्रकार वस्त्र आभूषण आदि उपभोगोंको इतने दिन तक सेवन नहीं करूंगा वा इतने दिनतक सेवन करूंगा इसप्रकार परिमाण करलेना चाहिये। तथा जितना परिमाण किया है उससे अधिक भोगोपभोगोंकी कभी इच्छा न करता हुआ भोगोपभोगपरिमाणव्रत पालन करना चाहिये। जिसमें भोग और उपभोग दोनोंके सेवन करनेका परिमाण किया जाता है उसे भोगोपभोगपरिमाण कहते हैं ॥ १३ ॥

आगे—भोग और उपभोगका लक्षण और जन्मपर्यंत तथा नियत कालतक उसके त्याग करनेकी विशेष संज्ञाको कहते हैं—

भोगः सेव्यः सकृदुपभोगस्तु पुनःपुनः स्रगंवरवत् ।
तत्परिहारः परिमितकालो नियमो यमश्च कालांतः ॥ १४ ॥

अर्थ—जिन पदार्थोंका सेवन एक ही वार कर सकते हैं अर्थात् एकवार सेवनकर फिर जिनको सेवन नहीं कर सकते ऐसे माला चंदन तांबुल आदि पदार्थोंको भोग कहते हैं। तथा जो वार वार सेवनकरनेमें आवें, जिन्हें सेवन कर फिर सेवन कर सकें ऐसे वस्त्र आभरण कामिनी आदि पदार्थोंको उपभोग कहते हैं। श्लोकमें जो माला और वस्त्रके समान ऐसा लिखा है वह अनुक्रमसे भोग और उपभोग दोनोंका संक्षेपरूप उदाहरण समझना चाहिये, अर्थात् माला भोगका उदाहरण है और वस्त्र उपभोगका उदाहरण है। तथा जो त्याग एक दो तीन चार दिन वा एक दो तीन चार महिना वा एक दो तीन चार वर्ष आदि किसी नियमित कालतक किया जाता है उसको नियम कहते हैं और जो त्याग मरणपर्यंत किया जाता है उसको यम कहते हैं। यम और नियम ये दोनों ही त्याग करनेकी विशेष संज्ञायें हैं ॥ १४ ॥

आगे—त्रस जीवोंकी हिंसा, बहुतसे स्थावर जीवोंकी हिंसा, प्रमाद बढ़ानेवाले पदार्थ, अनिष्ट और अनुपसेव्य पदार्थ इन सबका त्याग इसी भोगोपभोगपरिमाणमें अंतर्भूत होता है ऐसा कहते हैं—

पलमधुमद्यवदखिलस्त्रसबहुघातप्रमादविषयोऽर्थः ।
त्याज्योऽन्यथाप्यनिष्टोऽनुपसेव्यश्च व्रताद्धि फलमिष्टं ॥ १५ ॥

अर्थ—जिसने भोगोपभोगपरिमाण व्रत ग्रहण किया है ऐसा श्रावक जिस प्रकार अनेक त्रस जीवोंका घात होनेसे

मांसका त्याग कर देता है, बहुतसे जीवोंका घात होनेसे मधुका त्याग कर देता है और प्रमाद बढ़ानेका कारण होनेसे मद्यका त्याग कर देता है उसी प्रकार उसे जिनमें, द्वींद्रिय आदि त्रस जीवोंकी हिंसा होती हो, बहुतसे जीवोंकी हिंसा होती हो तथा जिनसे धर्मसे भ्रष्ट कर देनेवाला प्रमाद बढ़ता हो ऐसे सब पदार्थोंका त्याग कर देना चाहिये । जो शाक वा फल भीतरसे प्राय: पोले हैं, जिनमें उड़कर आये हुये जीव तथा उत्पन्न हुये सम्मूर्छन जीव अच्छीतरह रह सकते हैं, जीवोंके रहनेके लिये जिनमें बहुत जगह है ऐसे कमलनाल आदि पदार्थोंमें बहुतसे त्रसजीवोंके रहनेकी संभावना रहती है। केतकी, नीमके फूल, अर्जुनके फूल, अरणिके फूल, महजनाके फूल, महुआ और विल्वफल (बेल) इन चीजोंमें बहुतसे जीव रहते हैं । गिलोय, मूली, लहसन, और गीला अदरक आदि चीजोंमें बहुतसे जीवोंका घात होता है । दूषित विष भांग धतूरा आदि पदार्थ प्रमाद बढ़ानेवाले हैं । भोगोपभोगोपरिमाणव्रती श्रावकको इन सबका त्याग कर देना चाहिये। इसी प्रकार उसे धन कमानेके लिये क्रूर व्यापार भी नहीं करना चाहिये । यद्यपि यह बात श्लोकमें नहीं है तथापि अर्थात् सिद्ध होती है (क्योंकि जिसप्रकार भांग आदि पदार्थोंसे अच्छे विचार नष्ट हो जाते हैं उसीप्रकार क्रूर व्यापार करनेसे भी अच्छे विचार सब नष्ट हो जाते हैं ।) इसी प्रकार धर्मात्मा लोगोंको जिनसे त्रस वा स्थावर जीवोंका घात कुछ भी न होता हो परंतु जो अनिष्ट हों अर्थात् प्रकृतिके अनुकूल न हो, अभिमत न हो ऐसे समस्त पदार्थोंका त्याग कर देना

चाहिये। तथा जो इष्ट होकर भी अनुपसेव्य हों, अर्थात् शिष्ट वा सभ्य लोगोंके व्यवहार योग्य न हों, जैसे अनेक चित्र विचित्र रंगके कपड़े, विकृत वेश वा आभरण आदि अथवा मल मूत्र लार श्लेष्मा आदि। ऐसे समस्त पदार्थोंका भी त्याग कर देना चाहिये। इन सबके त्याग करनेका भी कारण यह है कि जो मानसिक अभिप्रायोंसे योग्य विषयोंका त्यागरूप व्रत धारण किया जाता है उससे इच्छानुसार अभ्युदय (स्वर्गादिकी विभूति) आदि इष्ट फलोंकी प्राप्ति होती है। भावार्थ—व्रतोंसे इच्छानुसार विभूतियां अवश्य प्राप्त होती हैं ॥ १५ ॥

आगे—ऊपर कहे हुये कथनको ही व्यवहारकी प्रसिद्धिके लिये तीन श्लोकोंमें कहते हैं—

> नालीसूरणकालिन्दद्रोणपुष्पादि वर्जयेत् ।
> आजन्म तद्भुजां ह्यल्पं फलं घातश्च भूयसाम् ॥ १६ ॥

अर्थ—धर्मात्मा पुरुषोंको नाली (कमलकी मृणाल), सूरण, कालिंद (तरबूज), द्रोणपुष्प (द्रोणवृक्षका पुष्प) और आदि शब्दसे मूली, अदरक, नीमके फूल, केतकी आदि पदार्थोंका मरणपर्यंत त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि इन पदार्थोंके खानेवालोंको एक क्षणके लिये जिह्वा इंद्रियका संतुष्ट होना मात्र थोड़ासा फल मिलता है परंतु उनके खानेसे उन पदार्थोंके आश्रित अनेक जीवोंका घात होता है ॥१६॥

आगे—व्रतोंको दृढ करनेके लिये ऊपर कहे हुये कथनको ही फिर विशेष रीतिसे कहते हैं—

> अनंतकायाः सर्वेऽपि सदा हेया दयापरैः ।
> यदेकमपि तं हंतुं प्रवृत्तो हंत्यनंतकान् ॥ १७ ॥

अर्थ—दया धर्मको प्रधान माननेवाले श्रावकोंको सब प्रकारके अनंतकाय जीवोंका सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये। क्योंकि व्यवहारसे एक होनेपर भी भक्षण आदिके द्वारा उस अनंतकायके मारनेको प्रवत्त हुआ श्रावक उस शरीरमें होनेवाले अनंत जीवोंका घात करता है, अर्थात् वह समझता है कि मैं एक वनस्पति जीवका घात करता हूं परंतु उससे अनंत जीवोंका घात होता है। जब एक अनंतकाय वनस्पतिसे अनंत जीवोंका घात होता है तो फिर ऐसी दो चार आदि वनस्पतियोंसे अनंतानंत जीवोंका घात होता ही है। जिनके एक शरीरमें अनंत जीव विद्यमान हों उन्हें अनंतकाय कहते हैं। मूल आदिसे उत्पन्न होनेवाले वनस्पति अनंतकाय होते हैं और वे सात प्रकारके हैं। मूलज, अग्रज, पर्वज, कंदज, स्कंधज, बीजज और सम्मूर्छन। अदरक, हल्दी आदि जमीनके भीतर उत्पन्न होनेवालोंको **मूलज** कहते हैं। आर्या अर्थात् खीरा ककडी आदि सिरेसे उत्पन्न होने-वालोंको **अग्रज** कहते हैं। देवनाल, ईख, वेत आदि गांठसे उत्पन्न होनेवालोंको **पर्वज** कहते हैं। प्याज, सूरण आदि जमीनके भीतर तिरछे फैलनेवालोंको **कंदज** कहते हैं।

सालयी, कटेरी, पलाश आदि शाखासे उत्पन्न होनेवालोंको **स्कंधज** कहते हैं। गेहूं, चांवल आदि बीजसे उत्पन्न होनेवालोंको **बीजज** कहते हैं। तथा जो विना किसी बीज आदिके अपने योग्य पुद्गल परमाणुओंको पाकर उत्पन्न हो जाते हैं उन्हें **सम्मूर्च्छन** कहते हैं। कहा भी है " मूलग्गपोरबीजा कंदा तह खंधबीज बीज-

रुहा । सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेया णंतकायाय" अर्थात् "मूल, अग्र, पर्व, कंद, स्कंध, और बीजसे उत्पन्न होनेवाले तथा सम्मूर्च्छन ये सब प्रत्येक और अनंतकाय हैं अर्थात् उत्पन्न होनेके समय प्रत्येक हैं और फिर अंतर्मुहूर्तमें साधारण हो जाते हैं ॥१७॥

आमगोरससंपृक्तं द्विदलं प्रायशोऽनवं ।
वर्षास्वदलितं चात्र पत्रशाकं च नाहरेत् ॥१८॥

अर्थ—जिनके बराबर दो टुकड़े हो सकते हों ऐसे उड़द, मूंग, चने आदि अन्नोंको द्विदल कहते हैं। कच्चे दूध, कच्चे दही और कच्चे दूधके जमाये हुये दहीकी छाछमें मिले हुये द्विदलको नहीं खाना चाहिये। क्योंकि शास्त्रानुसार उसमें अनेक सूक्ष्म जीव पड़ जाते हैं। तथा इसीतरह प्रायः पुराने द्विदल अर्थात् पुराने उड़द चना आदि अन्न नहीं खाना चाहिये। प्रायः कहनेका यह अभिप्राय है कि बहुत दिन रक्खे रहनेके कारण कुलथी आदि द्विदल अन्न यद्यपि काले पड़ गये हों परंतु उनमें संमूर्च्छन जीव उत्पन्न न हुये हों तो उनके खानेमें कुछ हानि नहीं है। तथा जो उड़द मूंग चना आदि अन्न विना दले हों अर्थात् जिनकी दाल न बनाई गई हो उनको वर्षाऋतुमें नहीं खाना चाहिये। क्योंकि आयुर्वेदमें लिखा है कि वर्षाऋतुमें ऐसे अन्नोंमें अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं और संमूर्च्छन त्रस जीव भी उत्पन्न हो जाते हैं इसलिये वे अभक्ष्य हो जाते हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि जिनमें अंकुर नहीं हों ऐसे भी द्विदल वर्षामें नहीं खाना चाहिये, तथा इसीतरह वर्षाऋतुमें पत्तेवाला शाक नहीं खाना चाहिये। क्योंकि उन

दिनोंमें पत्तवाले पाला मेथी आदि शाकोंपर त्रस और स्थावर जीवोंका संबंध रहता है तथा ऐसे शाकोंमें हिंसा बहुत है और फल थोड़ा है। पत्तेवाले शाकोंके कहनेसे फलरूप शाकोंका निषेध नहीं है क्योंकि फलोंमें उन शाकोंके समान अनेक जीवोंका संबंध नहीं रहता ॥१८॥

आगे—यह व्रत मनुष्योंमें दयालुता सिद्ध करनेका विशेष कारण है ऐसा कहते हैं—

> भोगोपभोगकृशनात्कृशीकृतधनस्पृहः ।
> धनाय कोट्टपालादिक्रियाः क्रूराः करोति कः ॥१९॥

अर्थ—इसप्रकार भोगोपभोग पदार्थोंके घटानेसे जिसने अपनी धनकी इच्छा घटा दी है ऐसा कौनसा मनुष्य है जो धन कमानेके लिये सेनापति कोटवाल सूबेदार आदिके प्राणियोंके घात करनेवाले क्रूर कर्मोंको करे ? अर्थात् ऐसा संतोषी मनुष्य ऐसे क्रूर कर्म कभी नहीं कर सकता। (क्योंकि जब उसने भोगोपभोगपरिमाणव्रतको धारणकर भोगोपभोगके पदार्थ ही छोड़ दिये हैं तो उसके द्रव्य कमानेकी अधिक अभिलाषा नहीं है यह अर्थात् सिद्ध है। तथा जिसके धन कमानेकी अधिक अभिलाषा नहीं है वह जिन कर्मोंमें बहुतसे जीवोंका घात होना संभव है ऐसे क्रूर कार्योंको कभी नहीं कर सकता ॥१९॥

आगे—भोगोपभोगव्रतके पांच अतिचार कहते हैं—

> सचित्तं तेन संबद्धं संमिश्रं तेन भोजनं ।
> दुष्पक्वमप्यभिषवं भुंजानोऽत्येति तद्व्रतं ॥ २० ॥

अर्थ—सचित्त पदार्थोंका भक्षण करना, सचित्तसे संबंध

रखनेवाले पदार्थोंको खाना, सचित्त मिले हुये पदार्थोंको खाना, दुष्पक्व और अभिषव पदार्थोंको खाना इन पांचों प्रकारके पदार्थोंको खानेवाला व्रती श्रावक भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें अतिचार लगाता है।
भावार्थ—इस व्रतके ये पांच अतिचार हैं।

सचित्त—जिनमें चेतना विद्यमान है ऐसे कच्ची ककड़ी आदि हरितकायको सचित्त कहते हैं। ऐसे सचित्त पदार्थोंका खाना अतिचार है। यद्यपि पहिले पंद्रहवें श्लोकमें निषेध किये हुये पदार्थोंमें ही सचित्तका निषेध हो जाता है तब फिर इसको दूसरी बार निषेध करना व्यर्थ है, तथा जब पहिले ऐसे पदार्थोंके खानेका निषेध किया है तो फिर ऐसे पदार्थोंके खानेसे व्रतका भंग होगा अतिचार नहीं इसलिये सचित्त भक्षणको अतिचार कहना योग्य नहीं है। तथापि इसका समाधान यह है कि जब एक ही पदार्थका निषेध दो श्लोकोंमें किया है तो दूसरीवार निषेध करनेके अभिप्रायमें कुछ न कुछ अंतर अवश्य होना चाहिये और वह अंतर यह है कि पहिले श्लोकमें बुद्धिपूर्वक अर्थात् जान बूझकर उस पदार्थके खानेका निषेध है। जान बूझकर उस पदार्थके खानेमें व्रतका भंग ही होता है। तथा दूसरे श्लोकमें जो निषेध किया है वह असावधानी वा भूलसे खानेका निषेध है, अथवा मनमें उस पदार्थके खानेकी इच्छा रखनेका निषेध है। मनमें उस पदार्थके खानेकी इच्छा रक्खे अथवा भूलसे खानेमें व्रतका भंग नहीं होता किंतु अतिचार ही होता है क्योंकि मनमें खानेकी इच्छा रखनेसे बाह्यव्रतका भंग नहीं होता और भूलसे

खानेमें अंतरंग व्रतका भंग नहीं होता। इस प्रकार भंगाभंगरूप होनेसे अतिचार होता है।

सचित्तसंबद्ध—जिसके साथ चेतन सहित वृक्ष आदिका संबंध है ऐसे गोंद पके फल अथवा जिनके भीतर सचित्त बीज है ऐसे पके खजूर आम आदि पदार्थ सचित्तसंबद्ध कहलाते हैं। पके फलोंमें बीज सचेतन पदार्थ है और शेषभाग अचित्त है। दोनोंके परस्पर संबंध होनेसे पके फलको सचित्तसंबंध कहते हैं। यदि सचित्तभोजनका त्यागी श्रावक प्रमाद आदिसे ऐसे पदार्थोंको खावे तो अतिचार होता है क्योंकि प्रमादादिसे खानेमें व्रतकी अपेक्षा भी रहती है और सावद्य आहारमें प्रवृत्ति भी होती है। अथवा "बीज सचित्त है इसलिये उसे छोड़ दूंगा और शेष भाग अचित्त है इसलिये उसे खालूंगा" ऐसी बुद्धिसे यदि कोई श्रावक पके खजूर आदि पदार्थोंको खाता है तो उस सचित्त त्यागी श्रावकके सचित्त वस्तुसे संबंधित पदार्थोंके खानेसे दूसरा अतिचार होता है।

सचित्त सम्मिश्र—जिसमें सचित्त पदार्थ मिला हो अर्थात् जिसमें सूक्ष्म जंतु वा सूक्ष्म जंतु सहित पदार्थ इस ढंगसे मिले हों कि जिनको अलग न कर सकें उसको सचित्तसम्मिश्र कहते हैं। अथवा जिनमें सचित्त पदार्थ मिले हों उनको भी सचित्तसम्मिश्र कहते हैं जैसे अदरक, अनारके बीज, चिर्भट आदिसे मिला हुआ चूरण आदि अथवा तिल मिली हुई जौकी धानी आदि। सचित्त त्यागी श्रावकको प्रमादादिसे ऐसे पदार्थ खाना अतिचार है।

दुष्पक्व—जो योग्यतासे अधिक पक गया हो अथवा कम पका हो उसे दुष्पक्व कहते हैं। जैसे किसी भातमें थोड़ेसे चांवल विना पके रह गये हों अथवा कुछ कच्चे रह गये हों ऐसे अधकच्चे अथवा अधपके धानी, चांवल, जौ, गेंहू और फल आदि पदार्थ खानेसे इस लोकमें आमरोग आदि अनेक दोष उत्पन्न हो जाया करते हैं, तथा वे चांवल आदि जितने अंशमें कच्चे रह गये हैं उतने अंश सचेतन होनेसे वे परलोकको भी विगाड़ देते हैं। (इसप्रकार अपक्व अथवा अर्द्धपक्व अन्न भक्षण करनेसे दोनों प्रकारके दोष होते हैं। इसलिये ऐसे पदार्थ नहीं खाना चाहिये।) ऐसे पदार्थोंमें जितना अंश कच्चा है उतना सचित्त है और पका हुआ अंश अचित्त है। इसप्रकार सचित्त अचित्त होनेसे व्रतका भंग और व्रतोंकी अपेक्षा दोनों ही होते हैं। इसलिये यह चौथा अतिचार होता है।

अभिषव—कांजी आदि पतले पदार्थोंको अथवा खीर आदि पौष्टिक पदार्थोंको अभिषव कहते हैं। भोगोपभोगपरिमाणव्रती श्रावकको मनमें ऐसे पदार्थोंके खानेकी अधिक इच्छा रखना अतिचार है।

चारित्रसारमें सचित्त, सचित्तसंबद्ध आदिको अतिचार सिद्ध करनेके लिये यह युक्ति लिखी है कि इन सचित्त आदि पदार्थोंके खानेसे अपना उपयोग सचित्तरूप होता है अथवा सचित्त वस्तुका उपयोग करना पड़ता है, इंद्रियोंके मदकी वृद्धि होती है अथवा वातप्रकोप आदि अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। उन रोगोंको दूर करनेके लिये औषधियोंका सेवन करना पड़ता है और वनस्पति आदि

औषधियोंके सेवन करनेमें फिर पाप संपादन करना पड़ता है। इसलिये व्रती श्रावकको इस प्रकारके आहारका सदाके लिये त्याग कर देना चाहिये।

स्वामी समंतभद्राचार्यने भोगोपभोगव्रतके अतिचार कुछ निराले ही कहे हैं और वे ये हैं " विषयविषतोऽनुपेक्षानुस्मृतिरतिलौल्यमतितृषानुभवौ। भोगोपभोगपरिमाव्यतिक्रमाः पंच कथ्यंते ॥ " अर्थात् विषयविषतो अनुपेक्षा, अनुस्मृति, अतिलौल्य, अतितृषा, और अनुभव ये पांच भोगोपभोगपरिमाणके अतिचार हैं। विषके समान दुःख देनेवाले विषयोंमें आदर करना अर्थात् विषयोंके सेवन करनेसे विषयोंकी आकांक्षा दूर हो जानेपर भी फिर फिर अपनी इष्ट प्रिय स्त्रीसे संभाषण आलिंगन आदिका त्याग न करना प्रथम अतिचार है। विषयोंके सेवन करनेसे विषयोंकी आकांक्षा वा वेदना दूर हो जानेपर भी फिर फिर उन विषयोंकी सुंदरता तथा उन्हें सुखका कारण मानना आदिका चिंतवन करना अनुस्मृति है। यह विषयोंका वार वार चिंतवन करना विषयोंमें अत्यंत आसक्त होनेका कारण होनेसे दूसरा अतिचार माना जाता है। विषयोंमें अत्यंत लोलुपता रखना अर्थात् विषयसेवनसे वेदना दूर हो जानेपर भी फिर फिर उन विषयोंके सेवन करनेकी आकांक्षा रखना अति लौल्य है। अत्यंत लोलुपतासे स्त्रियोंके साथ विषयसेवन आदिके प्राप्त होनेकी आकांक्षा वा इच्छा रखना अतितृषा है। जब नियत समयपर भी भोगोपभोगोंका सेवन करता है उस समय भी केवल

उस वेदनाको दूर करनेकी इच्छासे सेवन नहीं करना किंतु उनमें अत्यंत आसक्त होकर उनका सेवन करना अत्यनुभव है और अत्यंत आसक्त होकर सेवन करनेसे ही यह अतिचार होता है। इसप्रकार स्वामी समंतभद्राचार्यने ये पांच अतिचार कहे हैं। ये सब इस ग्रंथमें " परेऽप्यूह्यास्तथात्यया: " अर्थात् " ऐसे और भी अतिचार कल्पना कर लेना " इस वचनके कहनेसे संग्रह किये जाते हैं। भावार्थ—ये भी सब अतिचार माने जाते हैं। तथा इसी न्यायसे श्री सोमदेवके कहे हुये अतिचार भी संग्रह किये जाते हैं। उनके माने हुये अतिचार ये हैं—" दुःपक्वस्य, निषिद्धस्य, जंतुसंबंधमिश्रयोः अवीक्षितस्य च प्राशस्तत्संख्याक्षतिकारणं " अर्थात् दुःपक्व, निषिद्ध अर्थात् शास्त्रोंमें जिनका निषेध किया गया है, जंतुसंबंध अर्थात् जिनमें जीवोंका संबंध है, जंतुमिश्र अर्थात् जिनमें छोटे छोटे जीव मिले हैं और अवीक्षितप्राश अर्थात् पदार्थोंको बिना देखकर खाना ये पांच भोगोपभोगपरिमाणको नाश करनेवाले हैं भावार्थ—अतिचार हैं।

इस विषयमें श्वेतांबराचार्य ऐसा कहते हैं कि भोगोपभोगके कारण वा साधन जो द्रव्य हैं उनके संपादन करने वा कमानेके लिये जो जो व्यापार हैं उनको भोगोपभोग कहते हैं क्योंकि कहीं कहीं कारणोंमें भी कार्यका उपचार मान लिया जाता है, इसलिये सेनापतिपना, कोतवालपना आदि क्रूर व्यापार भी भोगोपभोगके साधनीभूत द्रव्यके साधन होनेसे छोड़ने योग्य हैं। तथा ऐसे खरकर्मोंके त्याग रूप भोगोपभोगव्रतमें अंगारजीविका आदि पंद्रह खरकर्मोंको अतिचार मानकर छोड़ देना चाहिये। परंतु यह उनका कहना ठीक

नहीं हैं क्योंकि संसारमें सावद्यकर्म (जिनके करनेसे पाप होता हो ऐसे कार्य) इतने भरे हुये हैं कि उनकी गिनती करना असंभव हैं। कदाचित् यह कहो कि हमने अत्यंत मंदबुद्धिके लोगोंके लिये ऐसा कहा है तो उनके लिये यह कथन मान लिया जा सकता है। हमारे व्याख्यानमें जिस जगह त्रसघात बहुतघात आदिके त्याग करनेका उपदेश दिया हैं (उसमे मंदबुद्धिके जीवोंके समझानेके लिये त्रसघात, बहुतघात आदिके त्याग करानेका उपदेश देकर ही क्रूर कर्मोंका त्याग करना बतलाया गया है। भावार्थ—जब त्रसघात और बहुघातका त्याग कराया है तब त्रसघात और बहुघातके कारण ऐसे क्रूरकर्मोंका त्याग कराना आ ही गया ॥ २० ॥

आगे—उन्हीं खरकर्मोंको तीन श्लोकोंमें कहते हैं—

व्रतयेत्खरकर्मात्र मलान्पंचदश त्यजेत् ।
वृत्तिं वनग्न्यनस्स्फोटभाटकैर्यन्त्रपीडनं ॥ २१ ॥
निर्लांछनासतीपोषौ सरःशोषं दवप्रदां ।
विषलाक्षादंतकेशरसवाणिज्यमंगिरुक् ॥ २२ ॥
इति केचिन्न तच्चारु लोके सावद्यकर्मणां ।
अगण्यत्वात्प्रणेयं वा तदप्यति जडान् प्रति ॥ २३ ॥

अर्थ—श्रावकोंको प्राणियों को दुःख देनेवाले खरकर्म अर्थात् क्रूर व्यापार सब छोड़ देने चाहिये और खरकर्म न करनेका व्रत धारण करनेवाले श्रावकोंको कर्मोंके आनेके कारण ऐसे खरकर्मव्रतके आगे लिखे पंद्रह अतिचार छोड़ देने चाहिये। वे पंद्रह अतिचार ये हैं—वनजीविका, अग्निजीविका, अनो-

जीविका (शकटजीविका), स्फोटजीविका, भाटजीविका, यंत्रपीडन, निर्लांच्छन, असतीपोष, सरःशोष, दवप्रद, तथा जीवोंको पीड़ा देनेवाले विषवाणिज्य, लाक्षावाणिज्य, दंतवाणिज्य, केशवाणिज्य और रसवाणिज्य।

वनजीविका—टूटे हुये अथवा विनाटूटे वृक्षोंको वेचना अथवा गेहूं चना आदि धान्योंको चक्किसे पीसकर वा दलकर जीविका करना वनजीविका है ।

अग्निजीविका—छहों कायके जीवोंकी विराधना करनेवाले ऐसे अंगारे बनाना कोयले बनाना आदि कर्मोंको अंगारजीविका वा अग्निजीविका कहते हैं ।

अनोजीविका—गाडी रथ आदि बनाकर अथवा उसके पहिये बनाकर अथवा दूसरेसे बनवाकर जीविका करना अथवा रथ गाडी आदिको स्वयं जोतकर वा वेचकर अथवा दूसरेसे जुतवाकर वा खरीद विक्री कराकर जीविका करना शकटजीविका है । शकटजीविका करनेसे बहुतसे जीवोंका घात होता है और बैल घोड़ा आदि जानवरोंको बंधनमें रखना पडता है।

स्फोटजीविका—जिनसे पृथ्वीकायक आदि जीवोंका घात हो ऐसे पटाके, आतिशबाजी आदि बारूदकी चीजें बनाना वा वेचना आदिकेद्वारा जीविका करना स्फोटजीविका है ।

भाटकजीविका—गाडी घोड़े आदिसे बोझा ढोकर उसके भाडेसे जीविका करना भाटकजीविका है ।

यंत्रपीडन—तिल सरसों आदि पदार्थोंको कोल्हू आदि यंत्रोंमें पेलना अथवा तिल सरसों आदि देकर उसके बदलेमें तेल लेना अथवा तेल पिल्वाना आदि व्यापारको यंत्रपीडन कहते हैं। इस व्यापारमें तिलादिके पेलनेसे उनमें रहनेवाले अनेक त्रस जीवोंका घात होता है इसलिये यह दुष्टकर्म है।

निर्लांच्छन—शरीरके अवयवोंको छेदना वा भेदना जैसे बैलकी नाक छेदना आदि कामोंसे व्यापार करनेको निर्लांच्छन कहते हैं। निरंतर लांच्छन अर्थात् शरीरके अवयवोंके छेदनेको निर्लांच्छन कहते हैं।

असतीपोष—दूसरे जीवोंका घात करनेवाले बिल्ली कुत्ता आदि प्राणियोंका पालन पोषण करना और जिनसे किसी तरहका भाड़ा उत्पन्न करनेमें आवे ऐसे दास दासियोंका पालन पोषण करना असतीपोष है।

सरःशोष—धान्य बोना खेतमें पानी देना आदि कार्योंके लिये किसी तालाव कूए बावडी आदि जलाशयसे नालीके द्वारा अथवा अन्य किसी उपायसे पानी निकाल लेनेको सरःशोष कहते हैं। इस व्यापारसे जलकायिक जीव, जलमें रहनेवाले शंख मछली आदि त्रस जीव और उस जलके सहारेसे जीवित रहनेवाले छहों कायके जीवोंका घात होता है इसलिये यह दुष्कर्म है।

दवप्रद—घास फूस आदि तृण जलानेके लिये दावाग्नि लगवा देना अथवा देना दवप्रद है। वह दो प्रकारका है एक,व्यसनसे उत्पन्न होनेवाला और दूसरा पुण्यबुद्धिसे। जिसमें अपना

कुछ लाभ न होते हुये भीलोंसे अग्नि लगवा देना व्यसनसे उत्पन्न हुआ कहलाता है। तथा कोई मनुष्य कहे कि मेरे मरनेके समय मेरे कल्याणार्थ इतने दीपक जलाकर उत्सव मनाना अथवा यदि यहांकी यह सूकी घास जलादी जायगी तो यहां हरी घास उपज आवेगी जो कि पशुओंके चरनेके काममें आवेगी ऐसी बुद्धिसे अग्नि लगवाना अथवा धान्योंकी उपज बढ़ानेके लिये जमीन जलवाना आदि पुण्यबुद्धिसे उत्पन्न हुआ दवप्रद कहलाता है। इन दोनोंमें करोडों जीवोंकी हिंसा होना प्रत्यक्ष दिखाई पडती है।

विषवाणिज्य—जीवोंको घात करनेवाले विष आदि द्रव्योंके बेचनेको विषवाणिज्य कहते हैं।

लाक्षावाणिज्य—लाख आदि पदार्थोंके बेचनेको लाक्षावाणिज्य कहते हैं। यह लाख अपने उत्पन्न होनेकेस्थानभूत वृक्षसे निकालनी पड़ती है और उसके निकालनेके समय अनेक सूक्ष्म त्रस जीवोंका घात होता है तथा अनंतकायिक जीवस्वरूप पत्तोंका नाश होता है। यहांपर लाख कहनेसे जिनसे जीवोंकी हिंसा होना संभव है ऐसी सब चीजें ग्रहण करलेना चाहिये। जैसे टांकणखार, मेनशिल और नील आदि पदार्थ। इन चीजोंके निकालनेमें भी अनेक बाह्य जीवोंकी हिंसा करनी पड़ती है। गूगुल भी विना जीवोंकी हिंसा किये उत्पन्न नहीं हो सकता। धायके फूल और धायकी छाल आदि पदार्थ भी मद्य बनानेके काम आते हैं। ये ऊपर लिखे हुये सब पदार्थ हिंसाके कारण हैं इसलिये इनके बेचने अथवा इनसे व्यापार करनेसे पापाश्रव ही होता है।

दंतवाणिज्य—जहां हाथी सिंह आदि जानवरोंके रहनेके जंगल हैं वहां भील आदि लोगोंसे दूसरोंको बेचनेके लिये हाथियोंके दांत अथवा सिंहोंके नख आदि पदार्थोंको द्रव्य देकर मोल लेना दंतवाणिज्य है । ऐसे करनेसे वे भील आदि शिकारी लोग उन पदार्थोंके बेचनेके लिये हाथी आदि जानवरोंका वध अवश्य करते हैं और यह वध उस मोल लेनेवालेने कराया ऐसा समझा जाता है परंतु इतना विशेष है कि जहां ऐसे जानवरोंके रहनेको जंगल नहीं है वहां ऐसे पदार्थोंके खरीदने बेचनेमें कुछ दोष नहीं है ।

केशवाणिज्य—दास दासी पशु आदि आदिके बेचनेको केशवाणिज्य कहते हैं । ऐसा करनेसे उन जीवोंको परतंत्र रहना पड़ता है, उनका वध बंधन भी होता है तथा भूख प्यास आदिका दुःख भी उन्हें सहना पड़ता है ।

रसवाणिज्य—मक्खन लोनी आदिके बेचनेको रसवाणिज्य कहते हैं । मक्खन वा लोनीमें अनेक सम्मूर्छन जीव रहते हैं । शहत, चर्बी और मद्य आदि पदार्थोंमें अनेक जीवोंका घात करना पड़ता है । मद्य मद उत्पन्न करनेवाला है तथा उसमें निरंतर उत्पन्न होनेवाले अनेक सूक्ष्म जीवोंका घात होता है । इसलिये इन पदार्थोंका व्यापार करना दुष्ट कर्म है ।

इसप्रकार इन पंद्रह खरकर्मोंके छोड़नेको कोई अर्थात् श्वेतांबरोंके आचार्य कहते हैं परंतु यह उनका कहना ठीक नहीं है । क्योंकि संसारमें पाप सहित क्रियाओंकी संख्या अर्थात् दुष्ट कर्मोंकी संख्या बहुत है उसे हम गिन ही नहीं सकते हैं । इसलिये ‘ पंद्रह ’ यह

संख्या नियत नहीं हो सकती । अथवा जो अत्यंत मंदबुद्धि हैं उनके समझानेके लिये इस खरकर्मव्रतका प्रतिपादन करना चाहिये । तथा हमने भी जो त्रसघात और बहुघातका त्याग कराया है उस कथनसे इन सबका त्याग हो जाता है ॥२३॥

इसप्रकार गुणव्रतका प्रकरण पूर्ण हुआ ।

आगे—शिक्षाव्रतका विधान कहनेके लिये कहते हैं—

शिक्षाव्रतानि देशावकाशिकादीनि संश्रयेत् ।
श्रुतचक्षुस्तानि शिक्षाप्रधानानि व्रतानि हि ॥२४॥

अर्थ—जिसको शास्त्रज्ञानरूपी नेत्र प्राप्त हुये हैं ऐसे श्रावकको देशावकाशिक, सामयिक, प्रोषधोपवास और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत अवश्य स्वीकार करना चाहिये । विद्याके कारणोंको शिक्षा कहते हैं जिनमें विद्याके कारण ही प्रधान हों ऐसे व्रतोंको शिक्षाव्रत कहते हैं । इन देशावकाशिक आदि व्रतोंसे सदा शिक्षा मिलती रहती है अथवा इनमें शिक्षा ही प्रधान है इसलिये ये चारों ही शिक्षाव्रत कहलाते हैं ॥२४॥

आगे—देशावकाशिक व्रतको निरुक्तिपूर्वक कहते हैं—

दिग्व्रतपरिमितदेशविभागेऽवस्थानमस्ति मितकालं ।
यत्र निराहुर्देशावकाशिकं तद्व्रतं तज्ज्ञाः ॥ २५ ॥

अर्थ—देशावकाशिक व्रत धारण करनेवालेको दिग्व्रतमें परिमाण किये हुये प्रदेशके किसी एक विभागमें किसी नियत समयतक रहना पड़ता है इसलिये उस व्रतके जाननेवाले आचार्य प्रकृति और प्रत्ययका अर्थ लगाकर देशावकाशिक व्रत कहते हैं । देश अर्थात्

दिग्व्रतमें परिमाण किये हुये क्षेत्रके किसी एक देश वा अंशमें अवकाश अर्थात् रहना, भावार्थ जिस व्रतमें दिग्व्रतमें परिमाण किये हुये क्षेत्रके किसी एक अंशमें रहना पडे उसे देशावकाशिक कहते हैं ॥२५॥

आगे—देशावकाशिक व्रती कौन हो सकता है सो कहते हैं—

स्थास्यामीदमिदं यावदियत्कालमिहास्पदे।
इति संकल्प्य संतुष्टस्तिष्ठन्देशावकाशिकी ॥ २६ ॥

अर्थ—जो श्रावक किसी घर पर्वत वा गांव की सीमा नियतकर तथा घडी, पहर, दिन महीना वर्ष आदिकी मर्यादा नियतकर उतने दिनतक उसी स्थानमें संतोषपूर्वक रहनेका संकल्प करता है तथा सीमाके बाहर किसी तरहकी अर्थात् आने जाने मंगाने बुलाने भेजने आदिकी तृष्णा नहीं करता। भावार्थ—जो संकल्प कर लेता है कि" मैं इतने दिनतक इस इतने स्थानमें रहूंगा " तथा जो सीमाके बाहर किसीतरह तृष्णा नहीं करता वह देशावकाशिक व्रती गिना जाता है। दिग्व्रतके समान इस व्रतमें भी नियमित सीमाके बाहर लोभका त्याग हो जाता है और स्थूल सूक्ष्म सब तरहके हिंसा झूठ चोरी आदि पांचो पाप छूट जाते हैं। इसलिये इसके पालन करनेसे इस लोकमें अच्छा फल मिलता है और परलोकमें भी आज्ञा ऐश्वर्य आदि संपत्तियां प्राप्त होती हैं। इसलिये यह स्वयं सिद्ध है कि इसे पालन करना ही चाहिये। यह व्रत दिग्व्रतके समान मरणपर्यंततक धारण नहीं किया जाता, नियमित कालतक ही रहता है तथा विद्याका साधन है इसलिये इसे शिक्षाव्रत कहते हैं।

सूत्रकारने इसको गुणव्रत माना है उनका यह अभिप्राय है कि दिग्व्रतको संक्षेप करना ही देशावकाशिक व्रत है। तथा यह दिग्व्रतका संक्षेप करना गुणव्रत आदि सब व्रतोंके संक्षेप करनेका उपलक्षण है, अर्थात् जैसे दिग्व्रतको संक्षेप करना आवश्यक है उसी प्रकार सब व्रतोंको संक्षेप करना आवश्यक है। यहांपर कदाचित् कोई यह कहे कि जैसे दिग्व्रतका संक्षेप करना देशावकाशिक माना है उसीप्रकार सब व्रतोंके संक्षेपको अलग अलग व्रत मानना चाहिये। परंतु उनका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि सब व्रतोंके संक्षेपको अलग अलग व्रत माननेसे " गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे " अर्थात् " उत्तरगुण बारह हैं " इसमें कही हुई बारह संख्याका विरोध होगा। इसलिये देशावकाशिक व्रतको उपलक्षण मानकर उसमें समस्त व्रतोंके संक्षेप करनेरूप व्रतोंका अंतर्भाव करना चाहिये ॥ २६ ॥

आगे—देशावकाशिक व्रतके अतिचार त्याग करनेकेलिये कहते हैं—

> पुद्गलक्षेपणं शब्दश्रावणं स्वांगदर्शनं ।
> प्रेषं सीमबहिर्देशे ततश्चानयनं त्यजेत् ॥ २७ ॥

अर्थ—देशावकाशिक व्रत करनेवाले श्रावकको सीमाके बाहर ढेले फेंकना, शब्द सुनाना, अपना शरीर दिखाना, किसीको भेजना और वहांसे कुछ मंगाना इन पांचों अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिये।

पुद्गलक्षेपण—नियत की हुई सीमाके बाहर स्वयं न जा सकनेके कारण अपने किसी अभिप्रायसे सीमाके बाहर कुछ काम करने-

वाले लोगोंको सूचना देनेके लिये ढेले पत्थर आदि फेंकनेको पुद्गलक्षेपण कहते हैं।

शब्दश्रावण—अपनी मर्यादासे बाहर रहनेवाले मनुष्योंको अपने समीप बुलाने आदि हेतुसे उनको सुन पडे इस रीतिसे चुटकी बजाना, ताली बजाना, खकारना आदिको शब्दश्रावण कहते हैं।

स्वांगदर्शन—अपने समीप बुलाने आदि हेतुसे शब्दका उच्चारण न करके जिसे बुलाना है उसे अपना शरीर अथवा शरीरके अवयव दिखानेको स्वांगदर्शन कहते हैं। इसका दूसरा नाम रूपानुपात भी है। ये तीनों ही यदि कपटसे किये जायं तो अतिचार होते हैं। यदि विना किसी कपटके सहज रीतिसे हो जायं तो अतिचार नहीं हैं।

प्रेषण—स्वयं अपने मर्यादा किये हुये प्रदेशमें ही रहकर सीमाके बाहर होनेवाले अपने कार्यके लिये किसी सेवक आदिको "तुम यह काम करो" इत्यादि रूपसे प्रेरणा करने और भेजनेको प्रेषण कहते हैं। देशावकाशिक व्रत आने जाने रूप व्यापारसे प्राणियोंकी हिंसा न हो इस अभिप्रायसे स्वीकार किया जाता है। तथा उस हिंसाके स्वयं करने और दूसरेसे करानेमें कुछ भी न्यूनाधिक फल नहीं होता उलटा स्वयं करनेकी अपेक्षा दूसरेसे करानेमें अधिक दोष होता है क्योंकि व्रती श्रावक यदि स्वयं मर्यादाका अतिक्रमण करके जायगा तो ईर्यासमितिसे जायगा और उसी कार्यके लिये कोई दूसरा मनुष्य भेजा जायगा तो वह इतना निपुण और व्रती न होनेसे ईर्यासमितिके विना ही

जायगा । इसलिये दूसरेके भेजनेमें अधिक दोष होना संभव है । (परंतु वह भेजनेवाला व्रती अपने बहिरंग व्रतकी रक्षा करनेके लिये सीमाके बाहर स्वयं नहीं जाता इसलिये बहिरंग व्रतका पालन और अंतरंग व्रतका घात होनेसे भंगाभंग रूप अतिचार माना जाता है।) यह चौथा अतिचार भी देशावकाशिक व्रतीको छोड़ देना चाहिये ।

आनयन—अपनी किसी इष्ट वस्तुको नियत की हुई सीमाके बाहरसे किसी भेजे हुये मनुष्यके द्वारा अथवा अन्य किसी तरह अपनी सीमाके भीतर मंगा लेनेको आनयन कहते हैं । च शब्दसे सीमाके बाहर खडे रहनेवाले सेवकको अथवा जिसे भेजा है उसे "ऐसा कर" इत्यादि रूपसे आज्ञा करना भी अतिचारोंमें गिना जाता है। ये चौथे और पांचवें दोनों अतिचार धर्मका पूर्ण ज्ञान न होनेसे अथवा अकस्मात् वा जल्दीमें हो जाते हैं । इन सब अतिचारोंमें "सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोंऽश भंजनं" अर्थात् "व्रतकी अपेक्षा रखकर उसके एक देश भंग करनेको अतिचार कहते हैं" । यह न्याय अवश्य लगा लेना चाहिये । भावार्थ—इन सब अतिचारोंमें व्रतके पालन करनेकी अपेक्षा अवश्य रहती है।। २७ ।।

आगे—जिसका स्वरूप नहीं कहा है उसका अनुष्ठान भी नहीं हो सकता इसलिये सामयिक करनेके लिये प्रथम ही सामयिकका स्वरूप कहते हैं—

एकांते केशबंधादि मोक्षं यावन्मुनेरिव ।
स्वं ध्यातुः सर्वहिंसादित्यागः सामयिकव्रतं ।।२८।।

अर्थ—शिक्षाव्रतको धारण करनेवाला जो श्रावक सब तरहके

आरंभ और परिग्रहसे रहित होकर मुनिके समान अंतर्मुहूर्तपर्यंत अपने आत्माका चिंतवन करता है वा धर्मध्यानमें लीन होता है तथा जो एकांत स्थानमें केशबंधन मुष्टिबंधन वस्त्रग्रंथिबंधन आदि कर उसके छोड़देनेपर्यंत सब जगह प्रमत्तयोगसे होनेवाली भावहिंसा और प्राणोंका वियोग होनेरूप द्रव्यहिंसा आदि पांचों पापोंका त्याग करता है उसके उस त्यागको सामयिक व्रत कहते हैं। इस व्रतके सामायिक और सामयिक दो नाम हैं। राग द्वेषसे रहित होनेको सम कहते हैं, ज्ञानादि गुणोंके लाभ होनेको अय कहते हैं। सम और अय दोनों मिलकर "समाय" शब्द बनता है। जिसका अर्थ रागद्वेषरहित पुरुषको ज्ञानादि गुणोंका लाभ होना अर्थात् प्रशमसुखस्वरूप होना (शांततापूर्वक आत्माके निजके सुखमें तल्लीन हो जाना) है। समाय शब्दसे अण् प्रत्यय कर सामाय बनता है और इसका अर्थ वही बना रहता है जो समायका है। सामाय ही जिसका मुख्य प्रयोजन हो उसे सामायिक कहते हैं। इसप्रकार रागद्वेष उत्पन्न होनेके कारणोंमें मध्यस्थ भाव रखना ही सामायिक कहलाता है। अथवा सर्वज्ञ वीतराग आप्तकी सेवा करनेके उपदेशको समय कहते हैं और उस उपदेशमें प्रतिपादन किये हुये कर्मको सामयिक कहते हैं। जिनेंद्र भगवानका अभिषेक करना, पूजा करना, स्तुति और जप आदि करना व्यवहार नयसे सामयिक कहलाता है और केवल अपने आत्माका ध्यान करना निश्चय नयसे सामयिक कहलाता है। सामयिकरूप व्रत धारण करना ही सामयिक व्रत है। द्रव्यहिंसा भावहिंसा आदि सब तरहके पांचों पापोंका सब

जगह त्याग कर देना ही सामयिक व्रत है। देशावकाशिक व्रतमें नियमित सीमाके बाहर सबतरहके पापोंका त्याग किया जाता है और सामयिकव्रतमें सब जगह किया जाता है। यही देशावकाशिक और इस सामायिकव्रतमें भेद है।

यहांपर शिखा आदिके बांधनेसे छोड़नेतक हिंसादिकका त्याग कराया है। उसका यह अभिप्राय है कि सामयिक करनेके लिये उद्यत हुआ श्रावक प्रारंभमें "मैं जो यह चोटीमें गांठ बांधता हूं अथवा किसी वस्त्रमें गांठ बांधता हूं वा मुठी बांधता हूं उसे जब तक मैं स्वयं न छोडूं तबतक समताभाव धारण करूंगा अथवा समताभावसे विचलित नहीं हूंगा" ऐसी प्रतिज्ञा करता है। इस प्रतिज्ञाका भी अभिप्राय यह है कि जितने कालतक उसकी समता रह सकती है उतने कालपर्यंत वह सामयिक व्रत करता है। जिस समय उसकी समतामें चंचलता आ जाती है उसी समय वह उस चोटी आदिकी गांठको छोड़कर व्रतका विसर्जन कर देता है। यदि वह समता अधिक समय तक ठहर सकी तो उस चोटी आदि-

---

१ यह बात स्वामी समंतभद्राचार्यने भी लिखी है—

मूर्द्धरुहमुष्टिवासो बंधं पर्यंकबंधनं चापि ।
स्थानमुपवेशनं वा समयं जानंति समयज्ञाः ॥

अर्थात् समयके जाननेवाले गणधरादि देव शिखाबंधन, मुष्टि-बंधन, वस्त्रबंधन, पर्यंकबंधन, स्थान और उपवेशन इनको समय कहते हैं। जिसमें समयमें कही हुई क्रियायें की जायं उसे साम-यिक कहते हैं।

की गांठका छोड़ना अपने आधीन होनेसे उस सामायिक व्रतके समयकी मर्यादा भी बढ़ा सकता है ॥ २८ ॥

आगे—सामयिक व्रतके अभ्यास करनेके समयका नियम बतलाते हैं—

परं तदेव मुक्त्यंगमिति नित्यमतंद्रितः ।
नक्तं दिनांतेऽवश्यं तद्भावयेच्छक्तितोऽन्यदा ॥२९॥

अर्थ—मोक्षका साक्षात् कारण चारित्र ही है क्योंकि परम उत्कृष्ट चारित्रकी पूर्णता होनेपर ही मोक्ष होती है। सामयिक भी उत्कृष्ट चारित्र है इसलिये यह सामयिक व्रत ही मोक्षका उत्कृष्ट साधन है। इसलिये मोक्षकी इच्छा करनेवाले प्रत्येक श्रावकको आलस्य छोड़कर प्रतिदिन रात्रिके अंतमें अर्थात् प्रातःकाल और दिनके अंतमें अर्थात् सायंकाल दूसरेकी परतंत्रता रहित नियमपूर्वक इस सामयिकव्रतका अभ्यास करना चाहिये। कदाचित् यहांपर कोई यह शंका करे कि सायंकाल और प्रातःकाल ही सामयिक करना चाहिये मध्याह्न (दोपहर) कालमें नहीं। परंतु इसका समाधान करते हुये ग्रंथकार कहते हैं कि उस मोक्षकी इच्छा करनेवाले श्रावकको मध्याह्न आदि दूसरे समयमें भी अपनी शक्तिके अनुसार सामयिक करना चाहिये। क्योंकि नियमित समयके सिवाय अन्य समयमें भी सामयिक करनेमें कोई दोष नहीं हैं किंतु अनेक गुण हैं ॥ २९ ॥

आगे—सामयिकमें बैठे हुये श्रावकको परिषह वा उपसर्ग होनेपर उनके जीतनेके लिये क्या क्या चिंतवन करना चाहिये सो कहते हैं—

मोक्ष आत्मा सुखं नित्यः शुभः शरणमन्यथा ।
भवोऽस्मिन् वसतो मेऽन्यत्किं स्यादित्यापदि स्मरेत् ॥ ३० ॥

अर्थ—यदि सामयिक करनेमें कोई परिषह अथवा उपसर्ग आजाय तो उस आपत्तिकालमें सामयिक करनेवाले श्रावकको इस प्रकार चिंतवन करना चाहिये कि मोक्ष अनंतज्ञानादिस्वरूप होनेसे आत्मस्वरूप ही है, निराकुल चैतन्यस्वरूप होनेसे सुखस्वरूप है, अनंतकाल पर्यंत भी उसका नाश नहीं होता इसलिये वह नित्य है, वह शुभ कारणोंसे उत्पन्न होती है अथवा शुभका कार्य है इस लिये वह शुभ है और समस्त प्रकारकी विपत्तियोंके अगम्य होनेसे तथा सबतरहके अपाय अर्थात् नाशोंसे रक्षा करनेका उपाय होनेसे शरण है । तथा स्वयं बंध किये हुये कर्मोंके उदयके वशसे नरक आदि चारों गतियोंमें परिभ्रमणरूप यह संसार मोक्षसे अत्यंत विरुद्ध है अर्थात् आत्मस्वरूपसे भिन्न है, दुःखस्वरूप है, अनित्य, अशुभ, और अशरण है । ऐसे इस संसारमें निवास करनेवाले मुझको दुःखके सिवाय और क्या मिलनेवाला है अथवा अबतक और क्या मिला है, अब क्या मिलता है और आगे क्या मिलेगा । किंतु बार बार दुःख ही मिलनेवाला है और कुछ नहीं । इस कथनसे यह भी सिद्ध होता है कि सामयिक करनेवाले श्रावकको परिषह और उपसर्ग अवश्य सहन करने चाहिये ॥ ३० ॥

आगे—सामयिक सिद्ध करनेके लिये श्रावकको और दूसरे समयमें क्या क्या करना चाहिये सो कहते हैं—

स्नपनार्चास्तुतिजपान् साम्यार्थं प्रतिमार्पिते ।
युंज्याद्यथाम्नायमाद्यादृते संकल्पितेऽर्हति ॥ ३१ ॥

अर्थ—मुक्त होनेकी इच्छा करनेवाले श्रावकको साकार प्रतिमामें स्थापन किये हुये अर्हंत देवमें परमार्थ सामायिक की सिद्धि करनेके लिये उपासकाध्ययन आदि शास्त्रोंमें कही हुई विधिको उल्लंघन न करके अर्थात् शास्त्रोंमें कही हुई विधिके अनुसार स्नपन, पूजा, स्तुति, और जप करना चाहिये। इनमेंसे स्नपनका लक्षण आगे कहेंगे और पूजा स्तुति आदिका स्वरूप ज्ञानदीपिकामें कहा है। अथवा इस ग्रंथमें भी पहिले कह चुके हैं। तथा केवल संकल्प किये हुये अर्थात् निराकार स्थापना किये हुये अरहंत भगवानमें स्नपनको छोड़कर शेष पूजा, स्तुति और जप करना चाहिये। इससे यह भी सूचित होता है कि देव-सेवा दो प्रकारसे हो सकती है एक प्रतिमा स्थापन करनेसे और दूसरी विना प्रतिमाके केवल संकल्प करनेसे। भावार्थ—निराकार और साकार दोनों प्रकारकी स्थापनाकर पूजा स्तुति आदि किये जा सकते हैं ॥२१॥

आगे—सामायिकका अत्यंत कठिन है। इस शंकाका निवारण करते हैं—

सामायिकं सुदुःसाध्यमप्यभ्यासेन साध्यते ।
निम्नीकरोति वार्बिन्दुः किं नाश्मानं मुहुः पतन् ॥२२॥

अर्थ—सामायिक व्रत अत्यंत दुःसाध्य है, कठिन है तथापि वह बारबार प्रवृत्ति करनेरूप अभ्याससे सिद्ध हो सकता है। क्या पत्थरपर पड़ती हुई जलकी बूंद उस पत्थरमें गढा नहीं कर देती ? भावार्थ—जैसे पत्थरपर जलकी बूंद बारबार पड़नेसे उसपर निशान

हो जाता है उसीप्रकार सामायिक कठिन होनेपर भी अभ्यास करनेसे सहज सिद्ध हो जाता है। इस विषयमें अजैन लोगोंने भी ऐसा कहा है "अभ्यास करना प्रत्येक काममें कुशलता उत्पन्न कर देता है। पत्थरपर एक ही बार पड़ी हुई जलकी बूंद कुछ निशान या गहरा गडा नहीं बना सकती।" भावार्थ—एकबार करनेसे कोई कार्य नहीं होता, प्रत्येक कार्य अभ्याससे ही सिद्ध होता है ॥३२॥

आगे—सामायिकके अतिचार छोड़नेके लिये कहते हैं—

पंचात्रापि मलानुज्झेदनुपस्थापनं स्मृतेः ।
कायवाङ्मनसां दुष्प्रणिधानान्यनादरं ॥३३॥

अर्थ—सामायिक व्रत करनेवाले श्रावकको अन्यव्रतोंके समान इस सामायिक व्रतके भी स्मृत्यनुपस्थान, कायदुष्प्रणिधान, वाक्दुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान और अनादर ये पांचों अतिचार छोड़देने चाहिये।

स्मृत्यनुपस्थान—स्मरण नहीं रहना अथवा चित्तकी एकाग्रता न होना, अथवा मैं सामायिक करूं या न करूं वा मैंने सामयिक किया है या नहीं आदिको स्मृत्यनुपस्थान कहते हैं। जब प्रबल प्रमाद होता है तब यह अतिचार लगा करता है। मोक्षमार्गके जितने अनुष्ठान हैं उन सबमें स्मरण रखना मुख्य है। बिना स्मरणके मोक्षमार्गकी कोई क्रिया नहीं हो सकती। इसलिये प्रमादसे स्मरण न होना सामायिकका प्रथम अतिचार है।

पापरूप प्रवृत्ति करनेको दुष्प्रणिधान कहते हैं। हाथ पैर

आदि शरीरके अवयवोंको निश्चल न रखना किसी पापरूप क्रियामें लगाना कायदुष्प्रणिधान है। वर्णोंका उच्चारण स्पष्ट न करना, शब्दोंका अर्थ न जानना तथा पाठ पढ़नेमें चपलता रखना आदिको वाग्दुष्प्रणिधान कहते हैं। क्रोध, लोभ, द्रोह, अभिमान, ईर्ष्या आदि उत्पन्न होना, तथा किसी कार्यके करनेकी शीघ्रता करना आदि मनोदुष्प्रणिधान है। ये तीनों ही सामायिकके अतिचार हैं।

क्रोधादिके आवेशसे बहुत देरतक सामायिकमें चित्त न लगानेको मनोदुष्प्रणिधान कहते हैं और चिंतवनके परिस्पंदन होनेसे अर्थात् बदलजानेसे चित्तको एकाग्र वा स्थिर नहीं रखना अर्थात् डवांडोल रखना स्मृत्यनुपस्थापन है। यही मनोदुष्प्रणिधान और स्मृत्यनुपस्थापनमें भेद है।

अनादर—सामायिक करनेमें उत्साह न करना, अथवा नियमित समयपर सामायिक न करना, अथवा जिसतिसतरह पूरा कर लेना, अथवा सामायिक करनेके बाद ही भोजन आदि करनेमें लीन होजाना आदिको अनादर कहते हैं।

यहांपर कदाचित् कोई यह शंका करे कि इसप्रकार अर्थात् अतिचार सहित सामायिक करना विधिरहित है और विधिरहित करनेसे न करना ही अच्छा है तथा ऐसे ईर्ष्या वचनोंको प्रमाण मानकर और अतिचार लगनेके डरसे कोई सामायिक ही न करना चाहे उसके लिये ग्रंथकार कहते हैं कि उनकी यह शंका वा ऐसे विचार ठीक नहीं है। क्योंकि प्रारंभमें अच्छा अभ्यास न होनेसे मुनियोंके सामायिक व्रतमें भी एक देश भंग होना संभव है। परंतु

एक देश भंग होनेसे कुछ व्रतका भंग नहीं होता, क्योंकि "मैं मनसे कुछ निंद्य कर्म नहीं करूंगा" ऐसे संकल्पपूर्वक जिसने मानसिक समस्त निंद्य कर्मोंका त्याग किया है तो उससे एक देशका भंग होनेपर भी शेष व्रतका सद्भाव रहनेसे संपूर्ण सामायिक व्रतका अभाव नहीं कहा जा सकता। इसलिये ऊपर लिखे पांचोंको अतिचार संज्ञा ही है। सामायिक करनेवाला श्रावक धीरे धीरे अभ्यासके द्वारा जब सामायिकको निरतिचार करने लग जाता है तब वह तीसरी पदवी अर्थात् सामायिक प्रतिमाका धारण करनेवाला गिना जाता है इसलिये व्रती श्रावकको सामयिकके अतिचार त्याग करदेनेके लिये प्रयत्न करना अच्छा ही है ॥३३॥

आगे—प्रोपधोपवास व्रतका लक्षण कहते हैं—

स प्रोषधोपवासो यच्चतुष्पर्व्यां यथागमं ।
साम्यसंस्कारदार्ढ्याय चतुर्भुक्त्युज्झनं सदा ॥३४॥

अर्थ—सामायिकके संस्कारोंको दृढ बनानेके लिये अर्थात् परिषह उपसर्ग आदिके होते हुये भी समताभाव न विगडने पावे, अच्छी तरह उनका विजय किया जाय इसलिये जो श्रावक जन्मपर्यंततक प्रत्येक महीनेके चारों पर्वोंके दिनोंमें जो शास्त्रानुसार चारों प्रकारके आहारोंका त्याग करता है उसके उस त्यागको प्रोपधोपवास कहते हैं। प्रत्येक महीनेमें कृष्णपक्षकी एक अष्टमी और एक चतुर्दशी तथा शुक्लपक्षकी एक अष्टमी और एक चतुर्दशी इसप्रकार चार चार पर्व होते हैं। प्रत्येक पर्वमें चारों प्रकारके आहारका त्याग करना चाहिये और वह इसप्रकारसे

करना चाहिये कि जिसको अष्टमीका प्रोषधोपवास करना है वह उसके एक दिन पहिले अर्थात् सप्तमीके दिन उस व्रतको स्वीकार करे, तथा उस दिन एकाशन करे अर्थात् एकवारके भोजनका त्याग करे। तथा अष्टमीके दोनोंवारके भोजनोंका त्याग करे अर्थात् विल्कुल निराहार रहे और फिर पारणाके दिन अर्थात् नवमीके दिन एकाशन करे अर्थात् उस दिन भी एकवारके भोजनका त्याग करे। इसप्रकार प्रत्येक पर्वमें चार चार वार भोजनोंके त्याग करनेको प्रोषधोपवास कहते हैं। भात, रोटी आदि अशन, लड्डु, पेंड़ा, आदि खाद्य, रवडी, चटनी आदि स्वाद्य और दूध जल आदि पेय कहलाते हैं ॥३४॥

इसप्रकार प्रोषधोपवासकी उत्तम विधि कहकर आगे मध्यम और जघन्य विधि कहते हैं—

उपवासाक्षमैः कार्योऽनुपवासस्तदक्षमैः ।
आचाम्लनिर्विकृत्यादि शक्त्या हि श्रेयसे तपः ॥३५॥

अर्थ—जो श्रावक ऊपरके श्लोकमें कहे हुये कथनके अनुसार उपवास करनेमें असमर्थ हैं उनको अनुपवास करना चाहिये। थोड़ेसे उपवासको अर्थात् जलको छोडकर शेष चारों प्रकारके आहारके त्याग करनेको अनुपवास कहते हैं। तथा जो अनुपवास करनेमें भी असमर्थ हैं उनको आचाम्ल और निर्विकृति भोजन करना चाहिये। विना पकी हुई कांजी मिलाकर भात खानेको आचाम्ल कहते हैं। विकृति रहित भोजनको निर्विकृति कहते हैं। जो जिह्वा (जीभ) और मनको विकार करे उसे विकृति कहते हैं। विकृति

भोजन चार प्रकारका है। गोरस, इक्षुरस, फलरस, और धान्य-रस। दूध, दही, घी आदि पदार्थोंको गोरस, खांड (शक्कर वा चीनी) गुड आदि पदार्थोंको इक्षुरस, दाख आम आदि फलोंसे निकाले हुये रसको अथवा इनसे बने हुये पदार्थोंको फलरस, और तेल, मांड (जो पानी भातमेंसे निकाला जाता है) आदि पदार्थोंको धान्यरस कहते हैं। अथवा जो पदार्थ जिसके साथ खानेमें स्वादिष्ट लगता है उसको विकृति कहते हैं। अनुपवास करनेमें असमर्थ श्रावकोंको विकृति रहित भोजन करना चाहिये। अथवा आदि शब्दसे एकस्थानमें बैठकर वा एकवार भोजन करना चाहिये अथवा किसी रसका त्याग कर देना चाहिये। अथवा और कुछ छोड़ देना चाहिये। इसका भी कारण यह है कि शक्तिके अनुसार किया हुआ तपश्चरण कल्याणकारी अर्थात पुण्य अथवा मोक्ष देनेवाला होता है ॥ ३५ ॥

आगे—पहिले श्लोकमें जो " शास्त्रानुसार " कहाथा उसका व्याख्यान चार श्लोकोंमें करते हैं—

पर्वपूर्वदिनस्यार्द्धे भुक्त्वातिथ्याशितोत्तरं ।
लात्वोपवासं यतिवद्विविक्तवसतिं श्रितः ॥ ३६ ॥
धर्मध्यानपरो नीत्वा दिनं कृत्वापराह्णिकं ।
नयेत्त्रियामां स्वाध्यायरतः प्रासुकसंस्तरे ॥ ३७ ॥

अर्थ—प्रोषधोपवास करनेवाले श्रावकको पर्वके पहिले दिन अर्थात् सप्तमी अथवा त्रयोदशीके दिन मध्याह्न कालमें (दोपहरके समय) अथवा मध्याह्नकालसे कुछ न्यूनाधिक समयमें अतिथि अर्थात्

मुनि अथवा क्षुल्लक अहिल्लक आदि भिक्षुकको भोजन देनेके अनंतर विधिके अनुसार भोजन करना चाहिये। यहां पर श्लोकमें दिनका आधा भाग लिखा है परंतु आधा अर्थात् अर्द्ध शब्दका अर्थ रूढिसे समान भाग और असमान भाग दोनों होते हैं इसलिये ही कुछ न्यूनाधिक समय भी लिया जाता है। भोजन करलेनेके बाद उस श्रावकको उसीसमय मुनिके समान उपवास स्वीकार करलेना चाहिये, अर्थात् जिसप्रकार मुनि भोजनके अनंतर ही उपवास करनेका संकल्प करते हैं, अपने आचार्यके समीप जाकर उनसे निवेदन करते हैं, निंद्य व्यापार, शरीरसंस्कार और अब्रह्मचर्य आदिका सदा त्याग करते हैं, उसीप्रकार प्रोषधोपवासमें श्रावकको भी भोजनके बाद ही उपवास स्वीकार करना चाहिये और निंद्य व्यापार आदि सबका त्याग कर देना चाहिये। तदनंतर निर्जन अथवा अयोग्य लोगोंसे रहित ऐसी वसतिं[१] वा अन्य किसी स्थानमें रहकर आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय ऐसे चार प्रकारके एकाग्रचिंतानिरोधरूप धर्मध्यानमें लीन होता हुआ अथवा ध्यानके छूट जानेपर स्वाध्याय वा अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन आदि कार्योंको करता हुआ वह दिन पूर्ण करना चाहिये। यहां पर "धर्मध्यानपरो" इसमें दिये हुये प्रधानार्थ पर शब्दसे

---

१ प्राचीन समयमें नगर वा ग्रामोंके बाहर धर्मात्मा लोग मुनियोंके ठहरनेके लिये अथवा सामायिक आदि करनेके लिये कुटी अथवा मकान आदि बनवा दिया करते थे उन्हें वसतिका अथवा वसति कहते थे। ऐसी वसतिका कई स्थानोंमें अब भी पाई जाती है।

स्वाध्याय अनुप्रेक्षाओंका चिंतवन आदि सूचित होते हैं। दिन समाप्त होनेपर अर्थात् सायंकालके समय संध्यावंदन आदि अपराह्निक कार्योंको करना चाहिये और फिर जीव जंतु रहित भूमिमें जीवजंतु रहित ऐसे घास दाभ आदिसे बनाये हुये सांतरे पर निद्रा और आलस्य-को पूर्ण करना चाहिये ॥३७॥

ततः प्राभातिकं कुर्यात्तद्वद्यामान् दशोत्सृजन् ।
नीत्वातिथिं भोजयित्वा भुंजीतालौल्यतः सकृत् ॥३८॥

अर्थ—तदनंतर अर्थात् विधिपूर्वक छह प्रहरोंको विताकर अष्टमी अथवा चतुर्दशीके प्रातःकाल प्रभातकालमें होनेवाले संध्या-वंदन, पूजन आदि पौर्वाह्निक कर्मोंको करना चाहिये और फिर इन्हीं छह प्रहरोंके समान उस दिनके चार प्रहर तथा उस रात्रिके चार प्रहर और पारणा करनेके दिनके दो प्रहर इसप्रकार दश प्रह-रोंको (अथवा पहिले छह प्रहर मिलाकर सोलह प्रहरोंको) व्यतीत-कर क्षुल्लक, ऐल्लक आदि अतिथिको भोजन कराकर उस दिन भी लोलुपता रहित केवल एकवार भोजन करना चाहिये ॥३८॥

पूजयोपवसन् पूज्यान् भावमय्यैव पूजयेत् ।
प्रासुकद्रव्यमय्या वा रागांगं दूरमुत्सृजेत् ॥३९॥

अर्थ—उपवास करनेवाले श्रावकको उस उपवासके दिन पूज्य परमेष्ठी, शास्त्र और गुरुओंका भावमयी पूजासे अर्थात् प्रीति-पूर्वक अनेक गुण स्मरण करनेरूप आराधनासे पूजन करना चाहिये। इसका भी कारण यह है कि उपवास करनेवाला सामायिकमें तल्लीन रहता है इसलिये उसके भावपूजा होना सहज सिद्ध है। अथवा कदाचित्

वह भावपूजा करनेमें असमर्थ हो तो उसको अक्षत मोतियोंकी माला आदि अचित्त वा प्रासुक द्रव्यसे पूजन करना चाहिये। तथा इंद्रिय और मनकी प्रीतिके साधन ऐसे गीत नृत्य आदिको दूरसे ही छोड देना चाहिये॥ ३९॥

आगे—प्रोषधोपवास व्रतके अतिचार छोड देनेकेलिये कहते हैं—

ग्रहणास्तरणोत्सर्गाननवेक्षाप्रमार्जनात्।
अनादरमनैकाग्र्यमपि जह्यादिह व्रत॥ ४०॥

अर्थ—प्रोषधोपवास करनेवाले श्रावकको इस व्रतके विना देखे विना शोधे कोई वस्तु ग्रहण करना वा रखना, बिछोना बिछाना, मल मूत्र करना, अनादर करना और चित्तकी एकाग्रता न रखना ये पांच अतिचार छोड देने चाहिये।

इसमें जीव जंतु हैं अथवा नहीं हैं ऐसा विचारकर आंखसे देखनेको

---

१ सुक्कं पक्कं तत्तं अंबिल लवणेण मिस्सियं दव्वं।
जं जंतेण य छिन्नं तं सव्वं फासुयं भणियं॥ १॥

अर्थ—जो द्रव्य सूखा हो, पका हो, तपाया हो, आम्लरस खटाई तथा लवणमें मिलाया गया हो और जो कोल्हू चर्खी चक्की छुरी आदि यंत्रोंसे छिन्न भिन्न किया हो वह सब प्रासुक है।

श्रावकको सदा सचित्त और अचित्त ऐसे दोनों प्रकारके द्रव्योंसे पंच परमेष्ठी आदिकी पूजा करनेका विधान है परंतु प्रोषधोपवासके दिन उसकेलिये केवल प्रासुक द्रव्योंसे ही अथवा केवल भावसे ही पूजा करनेका विशेष नियम है।

अवेक्षा कहते हैं। कोमल पीछी आदि उपकरणसे झाड़ बुहारकर साफ कर-नेको प्रमार्जन कहते हैं। जिसमें अवेक्षा और प्रमार्जन अर्थात् देखना वा शोधना दोनों ही नहीं किये हैं ऐसे अरहंत देव आदिकी पूजाके उपकरण (वर्तन सामग्री आदि) शास्त्र और अपने पहिननेके कपड़े आदि पदार्थोंका ग्रहण करना तथा उपलक्षणसे उनका रखना, विछौना वा सांतरा करना तथा इसीतरह विना देखी शोधी जमीन-पर मल मूत्र करना ये तीनों ही प्रोषधोपवासके अतिचार हैं। यहांपर विना देखे और विना शोधेका अभिप्राय दूरसे देख लेना और अच्छी तरह न शोधना वा योंही जिसतिस तरह शोध लेना है। यहांपर नञ् समास कुत्सा अर्थमें है अभाव अर्थमें नहीं है। इसलिये विना देखे विना शोधेका अर्थ—दूरसे देखना और अच्छी तरहसे न शोधना है। भूख प्यास आदिसे पीड़ित होकर प्रोषधो-पवासके आवश्यक कार्योंमें उत्साह न करना अनादर है। तथा चित्तको प्रोषधोपवासके कार्योंमें न लगाकर किसी दूसरी ओर लगाना चित्तकी अनेकाग्रता अथवा चित्तको एकाग्र न रखना है। इसप्रकार ये पांच अतिचार हैं ॥४०॥

आगे—अतिथिसंविभागव्रतका लक्षण कहते हैं—

व्रतमतिथिसंविभागः पात्रविशेषाय विधिविशेषेण ।
द्रव्यविशेषवितरणं दातृविशेषस्य फलविशेषाय ॥४१॥

अर्थ—जो विशेष दाता विशेष फलकी प्राप्तिके लिये शास्त्रों-में कही हुई विशेष विधिके अनुसार विशेष पात्रके लिये जो आगे कहे हुये विशेष द्रव्य देना है उसके उस देनेको अतिथिसंविभाग

व्रत कहते हैं। अपने लिये तैयार किये हुये निर्दोष भोजनमेंसे जो कुछ अतिथिके लिये देना है उसे अतिथिसंविभाग कहते है। इसका पालन नियमपूर्वक प्रतिदिन किया जाता है इसलिये इसकी व्रत संज्ञा है। भावार्थ—अतिथिसंविभाग व्रत करनेवाला भोजनके समय प्रतिदिन नियमसे अतिथिकी प्रतीक्षा करता है ऐसा करनेसे कदाचित् किसी दिन अतिथिका लाभ न भी हो तथापि उस व्रतीको दान देनेका फल मिल ही जाता है ॥४१॥

आगे—अतिथि शब्दकी व्युत्पत्ति दिखलाकर अतिथि शब्दका अर्थ कहते हैं—

> ज्ञानादिसिध्द्यर्थतनुस्थित्यर्थान्नाय यः स्वयं ।
> यत्नेनातति गेहं वा न तिथिर्यस्य सोऽतिथिः ॥४२॥

अर्थ—ज्ञानादिकी प्राप्तिका मुख्य साधन जो शरीर है आयुपर्यंत उस शरीरकी स्थितिमें कारण ऐसे अन्नके लिये जो बुलाने आदिके विना ही स्वयं यत्नपूर्वक अर्थात् संयमकी विराधना नहीं करता हुआ दाताके घर सदा गमन करता है उसको अतिथि कहते हैं। अथवा जिसकी कोई तिथि नियत न हो अर्थात् पर्व और उत्सव आदि कोई दिन जिसकी भिक्षामें प्रतिबंधक न हो उसको अतिथि कहते हैं। किसीने कहा भी है "तिथिपर्वोत्सवाः सर्वे त्यक्ता येन महात्मना। अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः" अर्थात् जिस महात्माने तिथि पर्व उत्सव आदि सबका त्याग कर दिया है, अर्थात् अमुक पर्व या तिथिमें भोजन नहीं करना ऐसे नियमका

त्याग कर दिया है उसको अतिथि कहते हैं और शेषोंको अभ्यागत कहते हैं ॥ ४२ ॥

आगे—दान लेनेवाले पात्रका स्वरूप और भेद बतलाते हैं—

यत्तारयति जन्माब्धेः स्वाश्रितान् यानपात्रवत् ।
मुक्त्यर्थगुणसंयोगभेदात्पात्रं त्रिधा मतम् ॥४३॥

अर्थ—जिसप्रकार नाव वा जहाज अपने आश्रित जीवोंको (उसमें बैठे हुओंको) समुद्रसे पार कर देता है उसीप्रकार जो अपने आश्रित जीवोंको अर्थात् दान देनेवाले और दानकी अनुमोदना करनेवालोंको संसाररूपी समुद्रसे पार कर देता है उसी प्रकार जो अपने आश्रित जीवोंको अर्थात् दान देनेवाले और दानकी अनुमोदना करनेवालोंको संसाररूपी समुद्रसे पार कर देता है उसे पात्र कहते हैं। तथा वह पात्र मोक्षके कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन गुणोंको धारण करनेवाला होताहै इसलिये इन तीनों गुणोंके संयोगके भेदसे उस पात्रके भी तीन भेद हो जाते हैं ॥४३॥

आगे—इसी विषयको विशेषकर दिखलाते हैं—

यतिः स्यादुत्तमं पात्रं मध्यमं श्रावकोऽधमम् ।
सद्दृष्टिस्तद्विशिष्टत्वं विशिष्टगुणयोगतः ॥४४॥

अर्थ—रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों गुणोंसे विभूषित होनेसे मुनि उत्तम पात्र गिने जाते हैं, तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और विकलचारित्र धारण करनेसे श्रावक मध्यम पात्र माने जाते हैं और केवल सम्यग्दर्शन गुण होनेसे असंयतसम्यग्दृष्टी जघन्यपात्र कहलाते हैं। इन तीनों

पात्रोंमें अलग अलग विशेष गुणोंके संबध होनेसे परस्पर भेद हैं।
भावार्थ–जिसमें तीनों गुण हों वह उत्तम पात्र है, जिसमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके साथ एकदेशचारित्र हो वह मध्यम है और जिसमें चारित्र बिल्कुल न हो शेष दो गुण हों वह अधम वा जघन्य पात्र है ॥४४॥

आगे—दान देनेकी विधिके भेद और उनकी विशेषता कहते हैं—

प्रतिग्रहोच्चस्थानांघ्रिक्षालनार्चानतीर्विदुः ।
योगान्नशुद्धीश्च विधीन्नवादरविशेषितान् ॥४५॥

अर्थ—प्रतिग्रह, उच्चस्थान, अंघ्रिक्षालन, अर्चा, आनति, मनशुद्धि, बचनशुद्धि, कायशुद्धि और अन्नशुद्धि इन नौ प्रकारसे भक्तिपूर्वक आदर विशेष करनेको पूर्वाचार्य विधि कहते हैं। इन्हींका नाम नवधाभक्ति है।

अपने घरके दरवाजेपर आये हुये मुनिको देखकर उनके समीप जाकर "प्रसादं कुरुत" अर्थात् "महाराज कृपा कीजिये" ऐसी प्रार्थना करके "नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, नमोऽस्तु, तिष्ठत, तिष्ठत, तिष्ठत," अर्थात् "आपको नमस्कार हो विराजिये" इसप्रकार तीनवार कहकर मुनिके स्वीकार करनेको प्रतिग्रह[१] कहते हैं। उन स्वीकार किये हुये मुनिको अपने घर ले जाकर

१ आहारके समय जब मुनि अपने दरवाजेके समीप आवें तो सबसे पहिले प्रतिग्रह किया जाता है और जब वे स्वीकार कर चुकें अर्थात् अपनी ओर आने लगें तब अन्य क्रियायें की जाती हैं।

जीवजंतुरहित समधरातल (जो ऊंचा नीचा न हो एकसा हो) स्थानमें ऊंचे आसनपर विराजमान करनेको उच्चस्थान कहते हैं। ऊंचे आसनपर विराजमान हुये उन मुनिके प्रासुक जलसे चरणकमल धोने और उस प्रक्षालन किये हुये जलको वंदना करना अंघ्रिक्षालन कहलाता है। जिनके चरणकमल प्रक्षालन हो चुके हैं ऐसे मुनिके चरणकमलोंकी गंध अक्षत आदि द्रव्योंसे पूजा करनेको अर्चा कहते हैं। ऊपर लिखे हुये प्रकारसे जिनकी पूजा की जा चुकी है ऐसे उन मुनिको पंचांग नमस्कार करनेको आनति कहते हैं।

ये पांच हुये। आर्तध्यान और रौद्रध्यानके छोड़नेको मनशुद्धि कहते हैं। कठोर व मर्मच्छेदी आदि वचनोंके छोड़नेको वचनशुद्धि कहते हैं। जब जगह अपने शुद्ध शरीरको कपड़ेसे ढककर संकोचरूपसे प्रवर्तन करनेको कायशुद्धि कहते हैं। यत्नपूर्व शुद्ध किये हुये चौदह दोषोंसे रहित ऐसे शुद्ध आहारको मुनिके हस्तपुटमें (हाथमें) अर्पण करनेको अन्नशुद्धि कहते हैं। इसप्रकार नौ प्रकारकी भक्ति अथवा सत्कार है ॥ ४५ ॥

आगे—देने योग्य द्रव्यके विशेष निर्णय करनेको कहते हैं—

पिंडशुद्ध्युक्तन्नादिद्रव्यं वैशिष्ट्यमस्य तु ।
रागाद्यकारकत्वेन रत्नत्रयचयांगता ॥४६॥

अर्थ—मुनिके लिये देने योग्य जो द्रव्य राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदिको उत्पन्न करनेवाला न होकर सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयको बढ़ानेवाला है उसे विशेष द्रव्य कहते हैं। जिनका

प्रतिपादन पिंडशुद्धि प्रकरणमें अर्थात् अनगारधर्मामृतके पांचवें अध्यायमें किया है ऐसे आहार, औषध, वसतिका, पुस्तक, पीछी आदि विशेष द्रव्योंको देय द्रव्य अर्थात् मुनिके लिये देने योग्य द्रव्य कहते हैं[1] ॥ ४६ ॥

आगे—दाताका लक्षण और उसके विशेष गुण कहते हैं—

नवकोटीविशुद्धस्य दाता दानस्य यः पतिः ।
भक्तिश्रद्धासत्त्वतुष्टिज्ञानालौल्यक्षमागुणः ॥४७॥

अर्थ—जो नौ प्रकारकी विशुद्धियुक्त दानका स्वामी है उसको दाता कहते हैं । मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनाके नौ भेद होते हैं । अथवा देने योग्य द्रव्यकी शुद्धि, उस द्रव्यकी शुद्धिसे होनेवाली दाताकी शुद्धि और पात्रकी शुद्धि । तथा दाताकी शुद्धि, उस दाताकी शुद्धिसे होनेवाली देनेयोग्य द्रव्यकी शुद्धि और पात्रकी शुद्धि । तथा पात्रकी शुद्धि, उस पात्रकी शुद्धिसे होनेवाली देनेयोग्य द्रव्यकी शुद्धि और दाताकी शुद्धि, आर्ष ग्रंथोंमें इसतरह भी नौ प्रकारकी विशुद्धि लिखी है । इन नौ प्रकारसे विशुद्धि अर्थात् पिंडशुद्धिमें कहे हुये दोषोंके संबंधसे रहित ऐसी दत्ति क्रियाका जो स्वामी है अर्थात् दान देने-

---

१ रागद्वेषासंयममददुःखभयादिकं न यत्कुरुते ।
द्रव्यं तदेव देयं सुतपःस्वाध्यायवृद्धिकरं ॥

अर्थ—जो द्रव्य राग, द्वेष, असंयम, मद, दुःख, भय आदि करनेवाला नहीं है तथा जो उत्तम तप और स्वाध्यायकी वृद्धि करनेवाला है वही द्रव्य देने योग्य है ।

वाला है उसे दाता कहते हैं, और वह दाता भक्ति, श्रद्धा, सत्त्व, तुष्टि, ज्ञान, अलौल्य, और क्षमा इन सात असाधारण गुणोंसे अर्थात् जो अन्य किसीमें न पाये जायं ऐसे गुणोंसे विभूषित होना चाहिये। पात्रके गुणोंमें अनुराग करनेको भक्ति कहते हैं। पात्रदानसे होनेवाले फलमें श्रद्धान रखनेको श्रद्धा कहते हैं। मनके सत्त्व नामक गुणको अर्थात् थोडा धन होनेपर भी आश्चर्य करनेवाले दानमें प्रवृत्ति करनेको सत्त्व कहते हैं। जो दान दिया जा चुका है अथवा जो दे रहा है उसमें हर्ष माननेको तुष्टि कहते हैं। देने योग्य द्रव्य आदिके ज्ञान होनेको ज्ञान कहते हैं। इस लोक संबंधी फलोंकी इच्छा न करनेको अलौल्य कहते हैं। तीव्र कलुषताके कारण उत्पन्न होनेपर भी क्रोध न करनेको क्षमा कहते हैं। लिखा भी है " भाक्तिकं तौष्टिकं श्राद्धं सविज्ञानमलोलुपं। सात्त्विकं क्षमकं संतो दातारं सप्तधा विदुः "।

अर्थात्—जो भक्ति सहित हो, तुष्टि, श्रद्धा और विज्ञान सहित हो, लोलुपता रहित हो, सत्त्वगुणविशिष्ट और क्षमागुण सहित हो इसप्रकारके दाताको सज्जन जन सात प्रकारका बतलाते हैं। भावार्थ—ये दाताके सात गुण हैं। इसके सिवाय दातामें सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण भी पाये जाते हैं और इन सात्त्विक आदि तीनों गुणोंसे दानके भी तीन भेद हो जाते हैं। जैसा कहा है— "आतिथेयं हितं यत्र यत्र पात्र परीक्षणं। गुणाः श्रद्धादयो यत्र तद्दानं सात्त्विकं विदुः।" अर्थात् जिस दानमें अतिथिका कल्याण हो जिसमें पात्रकी परीक्षा वा निरीक्षण स्वयं किया गया हो और

जिसमें श्रद्धा आदि समस्त गुण हों उसे सात्त्विक दान कहते हैं। "यदात्मवर्णनप्रायं क्षणिकाहार्यविभ्रमं। परप्रत्ययसंभूतं दानं तद्राजसं मतं" अर्थात्—जो दान केवल अपने यशके लिये किया गया हो, जो थोड़े समयके लिये ही सुंदर और चकित करनेवाला हो और जो दूसरेसे दिलाया गया हो उसको राजस दान कहते हैं। पात्रापात्रसमावेक्षमसत्कारमसंस्तुतं। दासभृत्यकृतोद्योगं दानं तामसमूचिरे" । जिसमें पात्र अपात्रका कुछ ख्याल न किया गया हो, अतिथिका सत्कार न किया गया हो, जो निंद्य हो, और जिसके सब उद्योग दास और सेवकोंसे कराये गये हों ऐसे दानको तामसदान कहते हैं। "उत्तमं सात्त्विकं दानं मध्यमं राजसं भवेत्। दानानामेव सर्वेषां जघन्यं तामसं पुनः" । सात्त्विक दान उत्तम है, राजस मध्यम है और सब दानोंमें तामस दान जघन्य है ॥४७॥

आगे—दानका फल और उसमें भी विशेषता बतलाते हैं—

रत्नत्रयोच्छ्रयो भोक्तुर्दातुः पुण्योच्चयः फलं ।
मुक्त्यंतचित्राभ्युदयप्रदत्वं तद्विशिष्टता ॥४८॥

अर्थ—दान दिये हुये आहार आदि पदार्थोंको उपभोग करनेवाले मुनि आदि पात्रके रत्नत्रयकी वृद्धि होती है और देनेवाले दाताको पुण्यराशिकी वृद्धि होती है। उसमें

१ उच्चैर्गोत्रं प्रणतेर्भोगो दानादुपासनात्पूजा।
भक्तेः सुंदररूपं स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषु ॥

अर्थ—मुनियोंको प्रणाम करनेसे ऊंच गोत्र मिलता है, दान देनेसे भोगोंकी प्राप्ति होती है, उपासना करनेसे प्रतिष्ठा मिलती है, भक्ति करनेसे सुंदर रूप मिलता है और स्तुति करनेसे कीर्ति मिलती है।

भी इतना विशेष है कि दान देना संसारमें आश्चर्य करनेवाले इंद्र, चक्रवर्ती, बलदेव, तीर्थंकर आदि पदवियोंके अनेक प्रकारके भोगोपभोगोंको उत्तमतासे देता हुआ अंतमें अनंतज्ञानादि चतुष्टयरूप मोक्षको प्रदान करता है। भावार्थ—दान देनेवाला इंद्रादिके अनेक सुखोंका अनुभव करता हुआ अंतमें मुक्त होता है। किसीने कहा भी है—"पात्रदाने फलं मुख्यं मोक्षः सस्यं कृषेरिव। पलालमिव भोगास्तु फलं स्यादानुषङ्गिकं" अर्थात्—जैसे खेती करनेका मुख्य फल धान्य उत्पन्न होना है, और भूसा घास आदि पदार्थ उससे स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं। उसीप्रकार पात्रदानका मुख्य फल मोक्ष है और इंद्रादिके भोगोपभोग उससे स्वयं मिल जाते हैं॥४८॥

आगे—मुनिको दान देनेमें घरके व्यापारसे होनेवाले समस्त पापोंको दूर करनेकी सामर्थ्य है ऐसा दिखलाते हैं—

पंचसूनापरःपापं गृहस्थः संचिनोति यत्।
तदपि क्षालयत्येव मुनिदानविधानतः ॥४९॥

अर्थ—दलना पीसना आदि क्रियाओंको पेषणी, छरना कूटना आदिको कुट्टिनी, अग्नि जलानेको चुल्ली, पानी भरनेको उदकुंभ और बुहारी देनेको प्रमार्जिनी कहते हैं। इन पांचों क्रियाओंको सूना कहते हैं। वास्तवमें प्राणियोंके घात करनेके स्थानका नाम सूना है। ऊपर लिखी क्रियाओंसे भी प्राणियोंका घात होता है इसलिये सूनाके समान होनेसे इनको भी सूना कहते हैं। गृहस्थोंको ये पांचों क्रियायें अवश्य करनी पड़ती हैं, इसलिये श्लोकमें मुख्यतासे इन्हींका नाम लिखा है। इन मुख्य पापोंके कहनेसे अन्य

गौण पाप भी सब ग्रहण कर लेने चाहिये । जिसके ये पांचों क्रियायें मुख्य हैं ऐसा गृहस्थ इन क्रियाओंसे तथा अन्य पापरूप क्रियाओंसे जो कुछ पापोंका संचय करता है उनको वह विधिपूर्वक अपने और परके उपकारकेलिये उत्तमपात्रको अपना द्रव्य देनेरूप दानसे अवश्य ही धो डालता है । अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि इन मुख्यरूप पांचों क्रियाओंसे होनेवाले पापके सिवाय और भी जितने पाप हैं वे सब भी दानके प्रभावसे नष्ट हो जाते हैं ॥४९॥

आगे—दान देनेवालोंको कैसे फलकी प्राप्ति होती है उसे दृष्टांतद्वारा दिखलाते हैं—

यत्कर्ता किल वज्रजंघनृपतिर्यत्कारयित्री सती
श्रीमत्यप्यनुमोदका मतिवरव्याघ्रादयो यत्फलं ।
आसेदुर्मुनिदानतस्तदधुनाऽप्यातोपदेशाद्ध्रुवं
व्यक्तं कस्य करोति चेतसि चमत्कारं न भव्यात्मनः ॥५०॥

अर्थ—मुनियोंको दान देनेसे उत्पलखेट नगरके राजा वज्रजंघको जो फल मिला था तथा दान दिलानेवाली अर्थात् अपने पतिके दान देनेमें आयोजना करनेवाली वा सहायता देनेवाली ऐसी पुंडरी-

१ गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानां अतिथीनां प्रतिपूजा रुधिरमलं धावते वारि ॥

अर्थ—जिसप्रकार जल रुधिरको धो डालता है उसीप्रकार जिन्होंने गृहका त्याग कर दिया है ऐसे मुनियोंकी पूजा घरके कामोंसे इकट्ठे हुये सब कर्मोंको धोडालती है ।

किणी नगरीके राजा वज्रदंत चक्रवर्तीकी पुत्री और ऊपर लिखे हुये वज्रजंघकी पत्नी पतिव्रता श्रीमतीको जो फल मिला था और उस दानकी अनुमोदना करनेवाले अर्थात ये दान देते हैं सो वहुत अच्छा करते हैं ऐसी अनुमति देनेवाले राजा वज्रजंघका मंत्री मतिवर, आदि शब्दसे आनंद पुरोहित, अकंपन सेनापति, धनमित्र श्रेष्ठी तथा व्याघ्र आदि शब्दसे शूकर, नकुल और वानर इनको जो फल मिला था, अर्थात् जो मुनियोंको दान देनेका फल दान देनेवाले, सहायता करनेवाले और उसकी अनुमोदना करने-वालोंके परिणामोंके द्वारा प्राप्त हुये वहुतसे पुण्यसमूहको कारण है, जिससे वहुतसा पुण्य होता है और जो परंपरासे चले आये गुरुओंके उपदेशरूपी दर्पणमें स्पष्ट प्रगट हो रहा है ऐसा वह मुनियोंके दानका फल आज इतने दिन वाद भी किस भव्य पुरुषके चित्तमें चमत्कार उत्पन्न नहीं करता है ? अर्थात् आज भी वह सव भव्य पुरुषोंके चित्तमें चमत्कार उत्पन्न करता ही है। जव वह इस समय भी चमत्कार उत्पन्न करता है तव फिर वह उस समयमें जो चमत्कार उत्पन्न करता होगा उसका तो कहना ही क्या है ॥ ५० ॥

आगे—दो श्लोकोंमें दान देनेके लिये अतिथियोंके ढूंढनेकी विधि कहते हैं—

कृत्वा माध्याह्निकं भोक्तुमुद्युक्तोऽतिथये ददे।
स्वार्थं कृतं भक्तमिति ध्यायन्नतिथिमीक्षतां ॥५१॥

अर्थ—मध्याह्नकालमें होनेवाली स्नान देवपूजन आदि क्रिया-ओंको करके भोजन करनेके लिये तैयार हुआ ऐसा अतिथिसंवि-

भोगव्रतको धारण करनेवाला श्रावक " जो भोजन मैंने अपने लिये बनाया वा बनवाया है अथवा किसी दूसरी जगह अपना निमंत्रण हो तो जो भोजन मैंने अपने कुटुंबी लोगोंके लिये बनाया वा बनवाया है उसे मैं अतिथिके लिये समर्पण करूंगा " इसप्रकार एकाग्र चित्तसे चिंतवन करता हुआ अतिथिका अन्वेषण करे अर्थात् उनके आनेकी प्रतीक्षा करे ॥५१॥

द्वीपेष्वर्द्धतृतीयेषु पात्रेभ्यो वितरंति ये ।
ते धन्या इति च ध्यायेदतिथ्यन्वेषणोद्यतः ॥५२॥

अर्थ—अतिथिको अन्वेषण करनेवाले (प्रतीक्षा करनेवाले) श्रावकोंको " जंबूद्वीप, धातकीद्वीप और आधा पुष्कर इसप्रकार ढाई द्वीपमें जो गृहस्थ विधिके अनुसार पात्रोंको दान देते हैं वे धन्य हैं, पुण्यवान हैं " ऐसा भी चिंतवन करना चाहिये ॥५२॥

आगे—भूमि आदिके दान देनेसे हिंसा होती है और सूर्यग्रहण आदिमें दान देनेसे सम्यक्त्वका घात होता है इसलिये नैष्ठिक श्रावकके लिये उसका निषेध करते हैं—

हिंसार्थत्वान्न भूगेहलोहगोश्वादि नैष्ठिकः ।
दद्यान्न ग्रहसंक्रांतिश्राद्धादौ च सुदृग्द्रुहि ॥५३॥

अर्थ—नैष्ठिक श्रावकको जिनके देनेमें अजैनलोग पुण्य मानते हैं ऐसे भूमि, घर, लोहा (शस्त्र आदि), गाय, घोडा तथा आदि शब्दसे कन्या, सुवर्ण, तिल, दही, अन्न आदि द्रव्योंका दान नहीं करना चाहिये । क्योंकि ये सब प्राणियोंकी हिंसाके निमित्त

कारण हैं। तथा इसीतरह सूर्यग्रहण, चंद्रग्रहण, संक्रांति (जिस दिन सूर्य एक राशिसे दूसरी राशिपर संक्रमण करता है, बदलता है), श्राद्ध अर्थात् मरे हुये माता पिताको उद्देशकर दान देना तथा आदि शब्दसे व्यतिपात आदिके दिन जिनको अजैन लोग पुण्यदिन वा पर्व मानते हैं इनमें नैष्ठिक श्रावकको अपने किसी द्रव्यका दान नहीं करना चाहिये। क्योंकि इन दिनोंमें दान देनेसे उसके सम्यक्त्वका घात होता है, अथवा ये दिन ही सम्यक्त्वका घात करनेवाले हैं। इन दोनों प्रकारके दान न देनेका समर्थन ज्ञानदीपिका टीकामें अच्छीतरह किया गया है। यद्यपि इस श्लोकमें नैष्ठिकको भूमिदान आदिका निषेध करनेसे पाक्षिक श्रावकके लिये इसका निषेध नहीं होता क्योंकि उसका सम्यक्त्व अभी अव्युत्पन्न अवस्थामें है तथापि ग्रहण संक्रांति आदिके दिनोंमें दान देनेका त्याग उसे भी अवश्य कर देना चाहिये क्योंकि उन दिनोंमें दान देना सम्यक्त्वका घात करनेवाला है। अभिप्राय यह है कि पाक्षिक श्रावक भूमि घर आदिके देनेका त्याग नहीं कर सकता तथापि उसे ग्रह संक्रांति आदिमें दान देनेका त्याग अवश्य कर देना चाहिये ॥ ५३ ॥

आगे—इस अतिथिसंविभाग व्रतके अतिचार छोड़नेके लिये कहते हैं—

त्याज्याः सचित्तनिक्षेपोऽतिथिदाने तदावृतिः ।
सकालातिक्रमपरव्यपदेशश्च मत्सरः ॥ ५४ ॥

अर्थ—अतिथिसंविभागव्रत करनेवाले श्रावकको अतिथि-

दानमें सचित्तनिक्षेप, सचित्तावृति, कालातिक्रम, परव्यपदेश और मत्सर इन अतिचारोंका त्याग कर देना चाहिये ।

सचित्त निक्षेप—पृथ्वी, जलका घडा, चुल्हा, धान्य, कमलके पत्ते आदि सचित्त वस्तुपर देने योग्य पदार्थोंके रख देनेको सचित्त निक्षेप कहते हैं। वह भी यदि उस पदार्थको दान न देनेकी इच्छासे रक्खा गया हो तो अतिचार होता है। कोई कोई तुच्छ बुद्धिवाले पुरुष "सचित्त वस्तुपर रक्खे हुये पदार्थको मुनिलोग ग्रहण नहीं करते हैं इसलिये उनके ग्रहण न करनेसे यह पदार्थ मेरे लिये ही बच रहेगा ऐसा समझते हैं" तथा यही समझकर उस देने योग्य पदार्थको सचित्त वस्तुपर रख देते हैं। ऐसे विचारसे देने योग्य पदाथको सचित्त वस्तुपर रखदेना प्रथम अतिचार है। अथवा जिसको मुनियोंने नहीं जाना है ऐसे सचित्त वस्तुपर रक्खे हुये पदार्थको उन्हे देना प्रथम अतिचार है।

सचित्तावृति—ऊपर लिखे अनुसार दान न देनेकी इच्छासे देने योग्य पदार्थको फूल पत्ते आदि सचित्त वस्तुसे ढक देनेको सचित्तावृति अथवा सचित्ताविधान कहते हैं। यह दूसरा अतिचार है। अथवा जिसको मुनियोंने नहीं जाना है ऐसे सचित्त वस्तुसे ढके हुये पदार्थको उन्हें दान देना दूसरा अतिचार है।

कालातिक्रम—साधुओंके उचित भिक्षासमयके उल्लंघन करनेको कालातिक्रम कहते हैं। जो अनुचित समयमें मुनियोंको भोजन देनेके लिये खड़ा होता है अथवा मुनियोंके भिक्षासमयके

पहिले अथवा पीछे स्वयं भोजन करता है उसके यह कालातिक्रम नामका तीसरा अतिचार लगता है।

परव्यपदेश—अपने गुड शक्कर आदि पदार्थोंको किसी वहानेसे अथवा छलसे "ये दूसरेके पदार्थ हैं मेरे नहीं है" इस प्रकार बतलानेको परव्यपदेश कहते हैं अथवा आज इनकी ओरसे दान दिया गया है अथवा यह (दिया हुआ वा जिसे दे रहा है) पदार्थ इनका है ऐसा कहकर वा बतलाकर समर्पण करना परव्यपदेश नामका चौथा अतिचार होता है।

मत्सर—क्रोध करनेको मत्सर कहते हैं। जैसे मुनिके अन्वेषण (प्रतीक्षा) करनेमें क्रोध करना, अन्वेषण किये हुये मुनिको आहार नहीं देना अथवा आहार देते हुये भी यथायोग्य आदरसत्कार नहीं करना आदि मत्सर कहलाता है। अथवा अन्य दातालोगोंके गुणोंको सहन नहीं करना भी मत्सर है। जैसे 'इस अन्वेषण करनेवाले श्रावकने मुनिको दान दे दिया मैं क्या इससे कुछ हीन हूं अथवा कम हूं' ऐसी ईर्षा और दूसरेकी उन्नतिसे वैमनस्य होकर दान देना भी मत्सर कहलाता है। मत्सर शब्दके अनेक अर्थ होनेसे ये ऊपर लिखे हुये सब अर्थ संगृहीत होते हैं। किसीने कहा भी है—"मत्सरः परसंपत्त्यक्षमायां तद्वति क्रुधि" अर्थात्—"दूसरेकी संपत्तिको सहन न करना दूसरेकी संपत्तिको सहन न करनेवाला और क्रोध ये सब मत्सरके अर्थ हैं।" ये सचित्तनिक्षेप आदि पांचों ही यदि अज्ञान वा प्रमादसे हों तो अतिचार होते हैं। यदि विना अज्ञान और प्रमादके जान बूझकर किये गये हों तो भंगरूप ही हैं। ऐसा समझना चाहिये॥ ५४॥

आगे—प्रकृत विषयका उपसंहार कर ऊपर लिखे हुये विषयके शेषभागको कहते हुये उसके अनुसार चलेनेवाले श्रावकको महाश्रावकपना प्राप्त होता है ऐसा कहते हैं—

एवं पालयितुं व्रतानि विदधच्छीलानि सप्तामला—
न्यागूर्णः समितिष्वनारतमनोदीप्तातवाग्दीपकः ।
वैयावृत्यपरायणो गुणवतां दीनानतीवोद्धरं—
श्चर्यां दैवसिकीमिमां चरति यः स स्यान्महाश्रावकः ॥५५॥

अर्थ—जो गृहस्थ श्रावक दुःख, व्याधि, शोक आदिसे पीड़ित ऐसे दीन जीवोंके दुःखोंको दूर करनेमें पाक्षिक श्रावककी अपेक्षा अतिशय तत्पर है, जो रत्नत्रयको आराधन करनेवाले अथवा अनेक प्रकारके संयमके अतिशयको धारण करनेवाले गुणी जीवोंकी वैयावृत्य करने अर्थात् निर्दोष वृत्तिसे उनकी आपत्तियां दूर करनेमें तत्पर है, जिसके चित्तमें स्वपरको प्रकाश करनेवाला पर अपर गुरुओंका वचन अर्थात् कारणमें कार्यका उपचार होनेसे उन गुरुओंके बचनोंसे उत्पन्न हुआ श्रुतज्ञानरूपी दीपक निरंतर देदीप्यमान हो रहा है । भावार्थ-जो अरहंतदेवके कहे हुये शास्त्रोंको अच्छी तरह जानता है और जो शास्त्रोंमें अनुक्रमसे कही हुई ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग इन पांचों समितियोंमें सदा उद्यत है अर्थात् संयमरूप अणुव्रतोंके पालन करनेमें तत्पर है, यह सिद्धांत है कि यदि अणुव्रत और महाव्रत समितियोंके साथ पालन किये जायं तो संयम कहाजाता है। यदि ये ही दोनों समितियोंके विना पालन किये जायं तो विरति अर्थात व्रत कहलाते हैं। कहा भी है—

" अणुवइ महाव्वयाइं समिदीसहियाइ संजमो समिदिहिं विणा विरदि इति " अर्थात् " अणुव्रत और महाव्रत समितियोंके साथ संयम कहलाते हैं और विना समितिके विरतिरूप हैं अर्थात् व्रत हैं । इसप्रकार ऊपर लिखे हुये गुणोंसे सुशोभित जो श्रावक " मैं सम्यग्दर्शन सहित पांचों अणुव्रतोंको निरतिचार पालन करूंगा " इस अभिप्रायसे तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ऐसे व्रतोंकी रक्षा करनेवाले सात शीलोंको इस अध्यायमें कहे हुये प्रकारसे अतिचाररहित पालन करता हुआ इस आगेके छट्ठे अध्यायमें निरूपण की हुई दिनचर्या अर्थात् दिनरातमें होनेवाले आचरणोंका अनुष्ठान करता है वह महाश्रावक कहलाता है । जो गुरुओंसे तत्त्वोंका स्वरूप सुनता है उसे श्रावक कहते हैं इंद्र आदि देव भी जिसकी पूजा करें ऐसे पूज्य वा बड़े श्रावकको महाश्रावक कहते हैं ।

इसका भी तात्पर्य यह है कि किसी पुण्यवान् पुरुषके काललब्धि आदि विशेष विशेष निमित्तकारणोंसे सम्यग्दर्शन शुद्ध होना, व्रतरूपी आभूषणोंसे सुशोभित होना, निर्मल सात शीलोंका निधि होना, संयम पालन करनेमें तत्पर रहना, जैन शास्त्रोंका जाननेवाला होना, गुरुओंकी सेवा सुश्रूषा करनेवाला होना और दया आदि सदाचारोंमें तत्पर रहना ये सात गुण प्राप्त होते हैं और इनके होनेसे वह महाश्रावक कहलाता है । इति भद्रं ॥५६॥

इसप्रकार पंडितप्रवर आशाधरविरचित स्वोपज्ञ (निजविरचित) सागारधर्मामृतको प्रगट करनेवाली भव्यकुमुदचंद्रिका टीकाके अनुसार नवीन हिंदी भाषानुवादमें धर्मामृतका चौदहवां और सागारधर्मामृतका पांचवां अध्याय समाप्त हुआ ।

छठा अध्याय।

आगे—दिनरातमें होनेवाली श्रावकोंकी क्रियाओंको कह-नेकी इच्छाकर पहिले ही पौर्वाह्णिक अर्थात् प्रातःकालसे दोपहर तक करने योग्य क्रियाओंको कहते हैं—

> ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वृत्तपंचनमस्कृतिः।
> कोऽहं को मम धर्मः किं व्रतं चेति परामृशेत् ॥ १ ॥

अर्थ—जिस समयकी देवता ब्राह्मी अर्थात् सरस्वती है उसको ब्राह्ममुहूर्त कहते हैं। वह रात्रि पूर्ण होनेके दो घड़ी पहिलेसे रात्रि पूर्ण होनेतक अर्थात् प्रातःकालतक रहता है। प्रत्येक श्रावकको ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर अपने अंतःकरणमें अथवा उच्चस्वरसे 'णमो अरिहंताणं' इत्यादि गाथारूप पंच नमस्कार मंत्र पढ़ना चाहिये। तदनंतर "मैं कौन हूं अर्थात् ब्राह्मण हूं अथवा क्षत्रिय हूं, इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न हुआ हूं अथवा अन्य किसी वंशका हूं" इत्यादि चिंतवन करना चाहिये। तथा मेरा धर्म क्या है? जैन धर्म है? या अन्य कोई श्रावकका धर्म पालन करता हूं या मुनियोंका धर्म? देव आदिकी साक्षीपूर्वक मैंने कौनसा धर्म स्वीकार किया है, मेरा व्रत कौनसा है, मैंने मूलगुण धारण किये हैं अथवा अणुव्रतादिरूप उत्तरगुण? इत्यादि चिंतवन करना चाहिये तथा च शब्दसे मेरे गुरु कौन हैं, मैं किस गांव वा नगरमें निवास करता हूं, यह समय कैसा है, कौन है, इत्यादि चिंतवन करना चाहिये। इसका भी कारण यह है कि अपने वर्ण, वंश आदिका स्मरण करनेसे वह उस वंश, धर्म वा

वर्णके विरुद्ध चारित्रको बहुत अच्छीतरह सहज रीतिसे छोड़ सकता है । कहा भी है– " ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय सर्वकार्याणि चिंतयेत् । यतः करोति सान्निध्यं तस्मिन् हृदि सरस्वती । " अर्थात् ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर सब कार्योंका चिंतवन करना चाहिये क्योंकि उस समय उसके हृदयमें सरस्वती निवास करती है ॥ १ ॥

तदनंतर—

अनादौ बंभ्रमन् घोरे संसारे धर्ममार्हतं ।
श्रावकीयमिमं कृच्छ्रात् किलापं तदिहोत्सहे ॥ २ ॥

अर्थ—बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज इसप्रकार बीजांकुरके समान अनादि कालसे संतानरूप चले आये द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव परिवर्तनरूप यह संसार अत्यंत भयंकर है । इस संसारमें बुरी तरह बारबार परिभ्रमण करते हुये मुझको यह जो अभी अंतःकरणमें स्फुरायमान हो रहा है ऐसा श्री वीतराग सर्वज्ञदेवका कहा हुआ श्रावकोंके उपासना करने योग्य धर्म बड़ी कठिनतासे प्राप्त हुआ है । इसलिये इस अत्यंत दुर्लभ धर्ममें प्रमादरहित और बड़े उत्साहसे वर्तना चाहिये ॥ २ ॥

इत्यास्थायोत्थितस्तल्पाच्छुचिरेकायनोऽर्हतः ।
निर्मायाष्टतयीमिष्टिं कृतिकर्म समाचरेत् ॥ ३ ॥

अर्थ—इस प्रकार ऊपर लिखे श्लोकके अनुसार प्रतिज्ञा करके शय्यासे उठना चाहिये और फिर शरीरशुद्धि करनी चाहिये अर्थात् विधिपूर्वक शौच जाना, दतौन करना, स्नान करना आदि क्रियाओंसे निवृत्त होना चाहिये । ये शौच जाना आदि क्रियायें

लोकमें प्रसिद्ध हैं इसलिये इनको अलग नहीं कहा है। इसका भी कारण यह है कि मोक्षमार्गमें शास्त्रोंमें कही हुई क्रियायें ही कार्यकारी हैं। इसी प्रकार आगे जहां कहीं न भी कहा हो वहां भी यह समझ लेना चाहिये कि परलोक आदिके लिये दिया हुआ उपदेश ही फलवान होता है। इसलोक संबंधी क्रियाओंके उपदेशसे मोक्षमार्गमें कुछ लाभ नहीं होता। इस प्रकार स्नान आदि क्रियाओंसे निवृत्त होकर एकाग्रचित्तसे अरहंत देव, शास्त्र और गुरुकी जल, चंदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप और फल इन आठ द्रव्योंसे पूजा करनी चाहिये और फिर उस व्रती श्रावकको पहिले " योग्य कालासन " इत्यादि श्लोकसे कहे हुये वंदना आदि कर्तव्य कर्मोंको अच्छी तरह करना चाहिये ॥ ३ ॥

तदनंतर—

समाध्युपरमे शांतिमनुध्याय यथाबलं ।
प्रत्याख्यानं गृहीत्वेष्टं प्रार्थ्य गंतुं नमेत्प्रभुं ॥ ४ ॥

अर्थ—जिसने वंदना आदि कर्म कर लिये हैं ऐसे श्रावकको अवश्य करने योग्य धर्मध्यानरूपी समाधि धारण करना चाहिये और फिर उस समाधिकी समाप्ति होनेपर " येऽभ्यर्चिता मुकुटकुंडलहाररत्नैः " इत्यादि श्लोकोंके उच्चारणसे शांतिका चिंतवन करना चाहिये। तदनंतर अपनी शक्तिके अनुसार भोगोपभोगादिकोंका विशेष नियम ग्रहण करना चाहिये और फिर भगवानके पुनर्दर्शन हों, समाधिमरण हो इत्यादि अपनी इच्छाओंकी याचना वा प्रार्थना

करके अपनी इच्छानुसार देशांतरको जानेके लिये भगवान श्री अरहंतदेवको पंचांग नमस्कार करना चाहिये ॥ ४ ॥

तदनंतर—

साम्यामृतसुधौतांतरात्मराजज्जिनाकृतिः ।
दैवादैश्वर्यदौर्गत्ये ध्यायन् गच्छेज्जिनालयं ॥ ५ ॥

अर्थ—जीवित रहने और मरनेमें समतारूप परिणाम ही आत्माके निर्मल होनेमें उत्कृष्ट कारण है इसलिये उसीको अमृत कल्पना किया है । उस समता परिणामरूप अमृतके संस्कारकी दृढतारूप उत्कृष्ट प्राप्तिसे जो अंतरात्मा अतिशय प्रक्षालित किया गया है, विशुद्ध किया गया है, अर्थात् उस साम्यामृतसे जो अंतः-करण स्वपरभेदज्ञानके सन्मुख हुआ है ऐसे जिसके अंतःकरणमें श्री जिनेंद्रदेवकी आकृति दैदीप्यमान हो रही है और जो संध्यावंदन आदि आवश्यक कार्य कर चुका है ऐसे श्रावकको " धन संपति आदि ऐश्वर्य मिलना अथवा दरिद्रता मिलना ये दोनों ही पूर्व भवमें किये हुये शुभ अशुभ कर्मके निमित्तसे होते हैं अर्थात् जब यह बड़ी बड़ी ऋद्धियोंको धारण करनेवाला, ईश्वर, राजा अथवा सामंत आदि होता है उस समय पुण्यकर्मके उदयसे यह संपदा स्वयं आजाती है उस समयकी वह संपदा कुछ पौरुष करनेसे थोड़ी ही प्राप्त होती है इसलिये आत्माके स्वरूपको जाननेवाला पुरुष इस परतंत्र संपदामें कैसे अहंकार करै तथा जब यह दरिद्री होता है तब भी अपने पहिलेके पापकर्मोंके उदयसे ही होता है उस दरिद्रताके दुःखको कोई दूर भी नहीं कर सकता इसलिये ऐसा कौन बुद्धिमान पुरुष

है जो इस दुःखमें विषाद करै " । इस प्रकार चिंतवन करते हुये जिनालय जाना चाहिये ॥ ५ ॥

आगे—जिनालय जानेकी विधि कहते हैं—

यथाविभवमादाय जिनाद्यर्चनसाधनं ।
व्रजन्कौत्कुटिको देशसंयतः संयतायते ॥ ६॥

अर्थ—अपनी संपदाके अनुसार अरहंत शास्त्र और आचार्योंकी पूजाके साधन ऐसे जल गंध अक्षत आदि सामग्री लेकर साम्हनेकी चार हाथ भूमिको देखकर गमन करता हुआ (जाता हुआ) देशसंयमी श्रावक मुनिके समान माना जाता है । भावार्थ—श्रावकको मंदिरके लिये पूजनकी सामग्री लेकर ईर्यासमितिसे जाना चाहिये । तथा इसप्रकार जाता हुआ वह मुनिके समान उत्कृष्ट माना जाता है ॥६॥

दृष्ट्वा जगद्बोधकरं भास्करं ज्योतिरार्हतं ।
स्मरतस्तद्गृहाशिरोध्वजालोकोत्सवोऽघहृत् ॥ ७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार सूर्य दिनमें गमन आगमन करनेवाले जगतके प्राणियोंको प्रबोध करानेवाला अर्थात् निद्राको दूर करनेवाला है उसीप्रकार श्रीजिनेंद्रदेव भी बहिरात्मा प्राणियोंकी मोहरूपी निद्राको दूर करनेवाले हैं । इसप्रकार उदय होते हुये सूर्यको देखकर भगवान अरहंतदेवके ज्ञानरूप अथवा वचनरूप तेजको स्मरण करते हुये श्रावकको जिनालयके शिखरपर फहराती हुई ध्वजाके दर्शनसे उसके समस्त पापोंको नाश करनेवाला आनंद प्राप्त होता है ॥ ७ ॥

वाद्यादिशब्दमाल्यादिगंधद्वारादिरूपकैः ।
चित्रैरारोहदुत्साहस्तं विशेन्निसहीगिरा ॥८॥

अर्थ—आश्चर्य करनेवाले और अनेक प्रकारके ऐसे उस जिनालयमें होनेवाले प्रातःकालके तुरई नगाड़े आदि वाजोंके शब्दोंसे तथा आदि शब्दसे स्वाध्याय, स्तुति, मंगलगीत आदिके शब्दोंसे, तथा चंपाके फूल आदिकी मालाओंकी सुगंधसे, आदि शब्दसे धूपके चूर्ण आदिके सुगंधसे और द्वारपर, आदि शब्दसे तोरण स्तंभ शिखर आदिपर बनी हुई चेतन अचेतन द्रव्योंकी मूर्तियोंसे धर्मक्रियाओंके करनेमें जिसका उत्साह बढ़ रहा है ऐसे श्रावकको 'निसही' ऐसा शब्द उच्चारण करते हुये उस जिनालयमें प्रवेश करना चाहिये ॥ ८ ॥

क्षालितांघ्रिस्तथैवांतः प्रविश्यानंदनिर्भरः ।
त्रिःप्रदक्षिणयेन्नत्वा जिनं पुण्याः स्तुतीः पठन् ॥ ९ ॥

अर्थ—तदनंतर अपने पैर धोकर उसीतरह अर्थात् 'निसही' शब्दको उच्चारण करते हुये चैत्यालयके मध्यभागमें प्रवेश करना चाहिये, और फिर समस्त शरीरमें आनंदमय होता हुआ अर्थात् आनंदमें डूबकर तीनवार श्रीजिनेंद्रदेवको नमस्कार करना चाहिये। तदनंतर ज्ञान संवेग आदि गुणोंको प्रगट करनेसे अशुभ कर्मोंको नाश करनेवाली और पुण्यको बढ़ानेवाली स्तुतिको पढ़ते हुये प्रतिमामें स्थापन किये हुये श्रीजिनेंद्रदेवकी तीन प्रदक्षिणा देनी चाहिये ।

सेयमास्थायिका सोऽयं जिनस्तेऽमी सभासदः ।
चिंतयन्निति तत्रोच्चैरनुमोदेत धार्मिकान् ॥ १० ॥

अर्थ—"यह जो चैत्यालयकी भूमि है वह आस्थायिका अर्थात् जिनागममें प्रसिद्ध ऐसी समवसरणकी भूमि ही है, ये प्रतिमामें स्थापन किये हुये जिनेंद्रदेव जिनागममें प्रसिद्ध ऐसे अष्ट महाप्रातिहार्य आदि विभूतिसे विभूषित श्री अरहंतदेव ही हैं और ये श्रीजिनेंद्रदेवको आराधन करनेवाले भव्यपुरुष साक्षात् अरहंतदेवकी सेवा करनेवाले समवसरणकी बारह सभाओंमें सुशोभित ऐसे शास्त्रोंमें प्रसिद्ध यति आदि सभासद हैं।" इसप्रकार चिंतवन करते हुये श्रावकको धर्मका आचरण करनेवाले मुनि अथवा श्रावक धर्मात्मा भव्य जनोंको वार वार अनुमोदन करना चाहिये, अर्थात् ये भव्यजन जो धर्मानुष्ठान करते हैं सो बहुत अच्छा करते हैं इसप्रकार उस चैत्यालयमें अथवा प्रदक्षिणा देते समय उनकी प्रशंसा करनी चाहिये, चित्तमें उनका अभिनंदनवाद करना चाहिये ॥ १० ॥

अथेर्यापथसंशुद्धिं कृत्वाऽभ्यर्च्य जिनेश्वरं ।
श्रुतं सूरिं च तस्याग्रे प्रत्याख्यानं प्रकाशयेत् ॥ ११ ॥

अर्थ—इसप्रकार प्रणाम पुण्यस्तुतिपाठ और प्रदक्षिणा कर लेनेके अनंतर ईर्यापथशुद्धि करके श्री जिनेंद्रदेव, शास्त्र और आचार्य (गुरु)की पूजा करनी चाहिये और फिर इस महाश्रावकको आचार्यके समीप जाकर उनसे पहिले प्रातःकालमें ग्रहण किये हुये नियम निवेदन करना चाहिये अर्थात् किये हुये नियमोंको प्रगट करना चाहिये।

संयम विराधनेका नाम ईर्यापथ है। उसको अच्छी तरह शुद्ध करना अर्थात् प्रतिक्रमण करना ईर्यापथशुद्धि है। पूजा करनेके बाद "णमो अरहंताणं भयवताणं णमोकारं करेमि" इत्यादि वचनोंसे प्रतिक्रमण करना चाहिये। और फिर "नमोऽर्हद्भ्यः" अर्थात् "अरहंतदेवको नमस्कार हो" इसप्रकार तथा "जयंति निर्जिताशेषसर्वथैकांतनीतयः। सप्तवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानंदा जिनेश्वराः"। अर्थात् "जिन्होंने समस्त सर्वथा एकांत नीतियां जीत ली हैं, तथा जो स्यादस्ति आदि अनेकांतरूप सात वाक्योंके स्वामी हैं और जो निरंतर ज्ञान और आनंदस्वरूप हैं ऐसे श्री जिनेंद्रदेव सदा जयशील हो" इत्यादि वाचनिक नमस्कारसे और जल आदिके पूजाके अष्टकोंसे भगवानके सामने उनकी पूजा करनी चाहिये। यह प्रतिक्रमण आदिका अनुक्रम शास्त्रपूजा और आचार्यपूजामें भी यथासंभव करना चाहिये। यह उसकी जघन्य वंदनाविधि है। उत्कृष्ट रीतिसे वंदनाविधि करनेके लिये उसको घरमें ही करनेका उपदेश दिया जा चुका है। भावार्थ—उत्कृष्ट पूजा वह घरमें ही कर लेता है और फिर जघन्य (संक्षिप्त) पूजा मंदिरमें करता है॥ ११ ॥

तत्श्चावर्जयेत्सर्वान् यथार्हं जिनभाक्तिकान्।
व्याख्यातः पठतश्चार्हद्वचः प्रोत्साहयेन्मुहुः ॥ १२ ॥

अर्थ—आचार्यसे अपना नियम निवेदन करनेके अनंतर उत्तम मध्यम आदिके भेदसे भिन्न भिन्न ऐसे समस्त अरहंतदेवको आरा-

---

१ ईर्यापथशुद्धि, प्रतिक्रमण, सामयिक आदिके पाठ क्रियामंजरीमें हैं।

धन करनेवाले जिनभक्तोंको यथायोग्य रीतिसे अनुरंजन वा प्रसन्न करना चाहिये। उसका भी क्रम यह है कि मुनियोंको 'नमोऽस्तु' अर्थात् 'आपके लिये नमस्कार हो' ऐसा कहना

---

१ नमोस्तु गुरवे कुर्याद्वंदनां ब्रह्मचारिणे ।
इच्छाकारं सधर्मिभ्यो वंदामीत्यार्यिकादिषु ॥
श्रावकानां मुनींद्रा ये धर्मवृद्धिं ददन्त्यहो ।
अन्येषां प्रकृतानां च धर्मलाभमतः परं ॥
आर्यिकास्तद्वदेवात्र पुण्यवृद्धिं च वर्णिनः ।
दर्शनविशुद्धिं प्रायः क्वचिदेतन्मतांतरं ॥
श्राद्धाः परस्परं कुर्युः इच्छाकारं स्वभावतः ।
जुहारुरिति लोकेस्मिन्नमस्कारं स्वसज्जनाः ॥
योग्यायोग्यनरं दृष्ट्वा कुर्वीत विनयादिकं ।
विद्यातपोगुणैः श्रेष्ठो लघुश्चापि गुरुर्मतः ॥

अर्थ—गुरुके लिये नमस्कार, ब्रह्मचारीके लिये वंदना, सधर्मियोंके लिये इच्छाकार और अर्जिकाओंके लिये वंदना करना चाहिये। मुनिराज श्रावकोंके लिये धर्मवृद्धि और अन्य अजैन लोगोंके लिये धर्मलाभ कहते हैं। अर्जिका भी उसीतरह अर्थात् श्रावकोंके लिये धर्मवृद्धि और अजैनोंके लिये धर्मलाभ कहते हैं। ब्रह्मचारी पुण्यवृद्धि कहते हैं अथवा दर्शनविशुद्धि हो ऐसा भी कहते हैं। श्रावकोंको परस्पर इच्छाकार वा इच्छामि कहना चाहिये और लौकिक व्यवहारमें जुहारु कहकर परस्पर नमस्कार करना चाहिये। योग्य अयोग्य मनुष्यको देखकर विनय आदि करना चाहिये। विद्या तप और गुण इनसे श्रेष्ठ पुरुष छोटा होनेपर भी बड़ा माना जाता है।

चाहिये, अर्जिकाओंको 'वंदे' कहना चाहिये और श्रावकोंको इच्छामि करना चाहिये तथा और भी जो प्रसिद्ध वाक्य हैं उनके द्वारा विनयकर सबको प्रसन्न करना चाहिये। कहा भी है "अर्हद्रूपे नमोऽस्तु स्याद्विरतौ विनयक्रिया। अन्योन्यं क्षुल्लके चार्हमिच्छाकारवचः सदा" अर्थात् "श्रीमुनिराजको नमस्कार करना चाहिये विरत श्रावकको वंदना और क्षुल्लकोंको परस्पर इच्छाकार कहना चाहिये।" इसके सिवाय परमागम युक्त्यागम और शब्दागमरूप प्रवचनके पद पदार्थ आदिका विशेष रीतिसे शिष्योंके समझने पर्यंत व्याख्यान करते हुये उपाध्याय आदिकोंको और उनके अध्ययन करनेवाले पढ़नेवाले शिष्य आदिकोंको वार वार उत्साह दिलाना चाहिये॥१२॥

तथा और क्या करना चाहिये सो कहते हैं—

> स्वाध्यायं विधिवत्कुर्यादुद्धरेच्च विपद्धतान्।
> पक्वज्ञानदयस्यैव गुणाः सर्वेऽपि सिद्धिदाः ॥१३॥

अर्थ—शास्त्रोक्त विधिसे अर्थात् व्यंजनशुद्धि आदि आठप्रकारके शुद्ध वचनोंसे स्वाध्याय अर्थात् शास्त्रोंका अध्ययन करना चाहिये। तथा शारीरिक और मानसिक शक्तिसे हीन ऐसे दीन पुरुषोंके दुःख दूर करने चाहिये। इसका भी कारण यह है कि जिस पुरुषके तत्त्वोंका ज्ञान और समस्त प्राणियोंके दूर करनेकी इच्छारूप करुणा वा दया ये दोनों ही गुण परिपक्व हो गये हैं अर्थात् आत्मामें मिल गये हैं उसके इच्छानुसार पदार्थोंके देनेवाले अथवा मोक्ष देनेवाले ऐसे कुलीनता, त्याग, शौर्य, और सुंदरता आदि समस्त गुण प्रगट होते हैं। एव शब्दसे यह सूचित होता है कि

जिसका ज्ञान आत्मरूप नहीं हुआ है, केवल बाहरी ज्ञान है अथवा जिसके दया गुण सदा आत्मरूप नहीं रहता, कभी कभी दिखाई दे जाता है उसके कोई गुण प्रगट नहीं होते हैं ॥१३॥

इसप्रकार अवश्य करनेयोग्य आचरणोंका उपदेश देकर अब न करनेयोग्य कामोंका उपदेश देते हैं—

मध्येजिनगृहं हासं विलासं दुःकथां कलिं।
निद्रां निष्ठयूतमाहारं चतुर्विधमपि त्यजेत् ॥१४॥

अर्थ—जिनमंदिरमें हंसना, शृंगारकी विशेष चेष्टायें, चित्तको कलुषित करनेवालीं कथायें तथा काम क्रोधादिकी कथायें अथवा देश, राज, स्त्री, भोजन ये चार विकथायें, कलह, निद्रा, थूकना और चारों प्रकारका आहार ये सात क्रियायें नहीं करनी चाहिये ॥ इसमें भी इतना विशेष है कि महाश्रावकको चैत्यालयके समस्त प्रदेशोंमें इनका त्याग कर देना चाहिये और अन्य लोगोंको चैत्यालयके मध्यभाग गंधकुटीमें (जिस कोठेमें प्रतिमा विराजमान हैं) इनका त्याग कर देना चाहिये ॥ १४ ॥

इसप्रकार प्रभातकालमें करने योग्य धर्मविधिका उपदेश देकर अब उसके अनंतर करने योग्य द्रव्य कमाने आदिकी विधिको कहते हैं—

ततो यथोचितस्थानं गत्वाऽर्थेऽधिकृतान् सुधीः ।
अधितिष्ठेद्व्यवस्येद्वा स्वयं धर्माविरोधतः ॥१५॥

अर्थ—दोनों लोकोंके हिताहितके विचार करनेमें चतुर ऐसे श्रावकको प्रभातकालके सब धर्मानुष्ठान कर चुकनेपर अपना द्रव्य

उपार्जन करनेके योग्य जो स्थान है ऐसी दूकान आदिपर जाकर अपने धन उपार्जन करने, रक्षा करने और बढ़ानेमें नियुक्त किये हुये मुनीम, गुमास्ते वा अन्य काम करनेवालोंकी देखरेख करनी चाहिये। अथवा यदि ऐसी सामग्री न हो अर्थात् द्रव्य उपार्जन करनेवाले मुनीम, गुमास्ते आदि न हों तो अपने धारण किये हुये जिनधर्ममें किसी प्रकारका व्याघात न हो इसतरहसे द्रव्योपार्जन करनेके लिये स्वयं व्यवसाय करना चाहिये। यदि वह व्यवसाय राजाको करना पड़े तो दरिद्र और श्रीमान्, प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित तथा उत्तम और नीच इनमें माध्यस्थ भाव रखकर न्यायपूर्वक प्रजाका पालन करना चाहिये। राजकर्मचारियोंको इसप्रकार करना चाहिये कि जिसमें राजा प्रजामेंसे किसीकी हानि न हो, तथा व्यापारियोंको कमती बढ़ती तौल मापको छोड़कर और वनजीविका आदिको छोडकर व्यापार करना चाहिये॥१५॥

आगे—अपना किया हुआ उद्योग चाहे निष्फल हुआ हो अथवा सफल हुआ हो परंतु उस संबंधी विषाद और हर्ष नहीं करना चाहिये ऐसा कहते हैं—

> निष्फलेऽल्पफलेऽनर्थफले जातेऽपि पौरुषे।
> न विषीदेन्नान्यथा वा हृष्येल्लीला हि सा विधेः॥१६॥

अर्थ—चाहे अपना पौरुष (उद्योग वा व्यापार) निष्फल हुआ हो अर्थात् उससे अपना प्रयोजन कुछ सिद्ध न हुआ हो, कुछ लाभ न हुआ हो अथवा संभावना किये हुये लाभसे कुछ कम लाभ हुआ हो अथवा जिस उद्योगमें अपना द्रव्य भी नष्ट हो गया

हो तथापि उसमें विषाद वा दुःख नहीं करना चाहिये। तथा यदि इससे विपरित फल हुआ हो अर्थात् वह ईच्छासे भी अधिक लाभ हुआ हो तो उसमें हर्ष भी नहीं करना चाहिये क्योंकि पौरुषकी निष्फलता और सफलता होनेकी अरोक प्रवृत्ति पूर्वोपार्जित पाप पुण्य कर्मके आधीन है। अपने आधीन नहीं है। इसलिये हानि-लाभमें हर्ष विषाद करना व्यर्थ है ॥१६॥

आगे—नौ श्लोकोंमें जीवननिर्वाह करनेकी विधि कहते हैं—

कदा माधुकरी वृत्तिः सा मे स्यादिति भावयन्।
यथालाभेन संतुष्ट उत्तिष्ठेत तनुस्थितौ ॥१७॥

तदनंतर—"मेरे शास्त्रानुसार माधुकरीवृत्ति वा भिक्षावृत्ति कब होगी" ऐसा चिंतवन करता हुआ व्यापार आदिमें होनेवाले लाभसे संतुष्ट हुये श्रावकको द्रव्योपार्जन करनेकी चिंतासे निवृत्त होकर शरीरके स्वास्थ्य करने योग्य भोजनादि करनेमें उद्यम करना चाहिये।

माधुकरी वृत्तिका यह अभिप्राय है कि जैसे मधुकर अर्थात भ्रमर अनेक पुष्पोंकी सुगंध लेता हुआ उनको किसी तरहकी पीड़ा नहीं देता और अपना पोषण करता है, इसीतरह जो दाताको किसी तरहकी पीड़ा न देता हुआ अपना निर्वाह करता है उसको माधुकरी वृत्ति अथवा भिक्षा कहते हैं ॥१७॥

नीरगोरसधान्यैधः शाकपुष्पांबरादिभिः।
क्रीतैः शुद्धविरोधेन वृत्तिः कल्प्यांगलाघवात् ॥१८॥

अर्थ—मूल्य देकर ग्रहण किये हुये ऐसे जल दूध घी आदि—

गोरस, चांवल, गेहूं आदि धान्य, ईंधन, शाक, पुष्प, वस्त्र, खाट, तृण, आदि पदार्थोंसे श्रावकको अपने शरीरके स्वास्थ्य करनेवाली जीविका इस प्रकार करना चाहिये कि जिसमें अपने ग्रहण किये हुये सम्यक्त्व और व्रतोंमें किसी तरहका घात न हो और जिसमें थोड़ा पाप लगे ॥१८॥

सधर्मिणोऽपि दाक्षिण्यद्विवाहादौ गृहेऽप्यदन् ।
निशि सिद्धं त्यजेद्दीनै र्व्यवहारं च नाव हेत् ॥१९॥

अर्थ—विवाहादि तथा इष्ट भोज्यादि कार्योंमें उपरोध करनेपर अर्थात् निमंत्रण आदि देनेपर कुटंबी लोगोंके घर तथा वहां रहनेवाले अन्य साधर्मी भाइयोंके घरपर भी भोजन करना चाहिये परंतु रात्रिमें बनाये हुये भोजनादिका त्याग कर देना चाहिये क्योंकि रात्रिमें भोजन बनानेमें त्रस जीवोंकी हिंसा और उस भोजनमें त्रस जीवोंका पड़ना ये दोनों ही किसीसे रुक नहीं सकते। तथा इसीप्रकार धन धर्म आदिसे रहित अथवा क्षुद्र गृहस्थोंके साथ दान देने लेने आदिका व्यवहार भी नहीं करना चाहिये ॥१९॥

उद्यानभोजनं जंतुयोधनं कुसुमोच्चयं ।
जलक्रीडांदोलनादि त्यजेदन्यच्च तादृशं ॥२०॥

अर्थ—उद्यानभोजन अर्थात् बाग बगीचोंमें भोजन करना, जंतुयोधन अर्थात् सिपाही (पहलवान), मुर्गा, मेड़े आदिको परस्पर लड़ाना, पुष्प इकट्टे करना, जलक्रीड़ा अर्थात् श्रृंगारकी भावनासे हर्ष और सर्द्धाके साथ जलमें क्रीड़ा करना, परस्पर एक दूसरेके ऊपर पानी उछालना, पालने वा झूलामें झूलना, आदि शब्दसे चैतकृष्णा

प्रतिपदाके दिन धूल वा राख उड़ाना, होली खेलना, परिहास करना आदि समस्त क्रियाओंका **त्याग** कर देना चाहिये। तथा और भी जो इनके समान द्रव्यहिंसा और भावहिंसाके करनेवाले हैं ऐसे कौमुदी-महोत्सव, कूदना, नाटक देखना, युद्ध देखना, रासक्रीडा करना वा देखना आदिकोंका त्याग कर देना चाहिये। ॥२०॥

यथादोषं कृतस्नानो मध्याह्ने धौतवस्त्रयुक्।
देवाधिदेवं सेवेत निर्द्वंद्वः कल्मषच्छिदे ॥२१॥

अर्थ—जिससमय मुनियोंकी भिक्षा करनेका समय समीप आचुका हो ऐसे मध्याह्नके समय अपने दोषके अनुसार अंगप्रक्षालन आदि यथोचित स्नान करके धुले हुये (जलसे निर्मल किये हुये) धोती दुपट्टा पहिनकर तथा पहिलेके और उसी समयके किये हुये पापोंको नाश करनेके लिये मनके समस्त संकल्प विकल्पोंको छोड़कर अभिषेक पूजन आदिके द्वारा देवाधिदेव भगवान अरहंतदेवकी **पूजन** करना चाहिये अर्थात् उनकी आराधना करनी चाहिये। भवनवासी आदि चारों प्रकारके देव तथा इंद्रादिक देव आचार्य आदिसे भिन्न जिनकी स्तुति करते हैं जिनकी आराधना करते हैं उन्हें देवाधिदेव कहते हैं और वे देवाधिदेव अरहंतदेव ही हैं ॥२१॥

आगे—जिनस्नपन (अभिषेक) आदि उपासनाकी विधि कहते हैं—

आश्रुत्य स्नपनं विशोध्य तदिलां पीठ्यां चतुष्कुंभयुक्—
कोणायां सकुशश्रियां जिनपतिं न्यस्यांतमाप्येष्टदिक् ।
नीराज्यांबुरसाज्यदुग्धदधिभिः सिक्त्वा कृतोद्वर्तनं—
सिक्तं कुंभजलैश्च गंधसलिलैः संपूज्य नुत्वा स्मरेत् ॥२२॥

अर्थ—मध्याह्नकी क्रियाओंके करनेमें उद्यत हुये श्रावकको प्रथम ही अभिषेक करनेकी प्रतिज्ञा करनी चाहिये, तदनंतर रत्न, जल, कुशा (डाभ) और अग्निके द्वारा तर्पण आदि विधि करके उस अभिषेक करनेकी भूमिको शुद्ध करना चाहिये, इतना सब कर-लेनेके बाद उस शुद्ध भूमिमें एक स्नपन पीठ (अभिषेक करनेके लिये चौकी और सिंहासन) स्थापन करना चाहिये। उस स्नपन पीठके चारों कोनोंमें चार पूर्ण कलश स्थापन करना चाहिये, कुशा स्थापन करना चाहिये और फिर घिसे हुये चंदनसे 'श्री' और 'ह्रीं' ये दो अक्षर उस सिंहासन पर लिखकर उसपर श्री जिनेंद्रदेवको विराजमान कर देना चाहिये। यहांपर इतना विशेष है कि किसी किसी आचार्यका यह मत है कि अक्ष-तोंसे केवल 'श्री' अक्षर बनाकर उसपर श्री जिनेंद्रदेवको विराज-मान करना चाहिये। जैसा किसीने कहा है "निस्तुषनिर्व्रणनिर्मल-जलार्द्रशालीय तंडुलालिखिते। श्रीकामः श्रीनाथं श्रीवर्णे स्थापयामुच्चैः" अर्थात् "जिन शालीचावलोंमें धान नहीं है, जो टूटे नहीं हैं जो निर्मल हैं और जल मिलानेसे कुछ गीले हो रहे हैं ऐसे चांवलोंसे 'श्री' अक्षर लिखकर उसपर श्री अर्थात् मोक्षकी इच्छा करनेवाला मैं श्रीनाथ अर्थात् समवसरणादि वा अनंतचतुष्टय आदि बाह्य अभ्यंतर लक्ष्मीके स्वामी श्रीजिनेंद्रदेवको अच्छीतरह विराजमान करता हूं" अभिप्राय यह है कि घिसे हुये चंदनसे श्री और ह्रीं ये दो अक्षर भी लिख सकते हैं अथवा अक्षतोंसे श्री अक्षर भी लिख सकते हैं, दोनोंमेंसे चाहे जैसा लिखकर उसपर श्री जिनेंद्र-

देवको विराजमान करना चाहिये। तदनंतर विराजमान किये हुये श्री जिनेंद्रदेवको अपनी आत्माके सन्निकट करना चाहिये अर्थात् अपने हृदयमें विराजमान करना चाहिये। भावार्थ—सन्निधिकरण क्रिया करनी चाहिये, और फिर जिनयज्ञको बढ़ानेवाले वा अनुमोदना करनेवाले इंद्र आदि दश दिशाओंमें रहनेवाले दश दिक्पालोंको यज्ञका अंश वा यज्ञभाग देना चाहिये अर्थात् उनको आह्वान कर उनके योग्य सामग्रीसे पूजन और नैवेद्यकी बलि देना चाहिये। तदनंतर श्री जिनेंद्रदेवकी पूजाकर मृत्पिंड (मिट्टी), गोमयभस्मपिंड अर्थात् गायके गोबरकी राखका पिंड, दूभ, दाभ, पुष्प, अक्षत और चंदन मिले हुये जलसे भगवानकी आरती उतारना चाहिये। तदनंतर तीर्थोदक, ईख, दाख, आम आदिका निकाला हुआ रस, घी, दूध, और दही इन पंचामृतोंसे अनुक्रमसे श्रीजिनेंद्रदेवका अभिषेक करना चाहिये अर्थात् पहिले जलसे, फिर ईख आदिके रससे, फिर घीसे, दूधसे और फिर दहीसे अभिषेक करना चाहिये। तदनंतर इलायची तगर आदिसे बने हुये कल्क चूर्णसे उद्वर्तन (उबटन) कर कषायजलसे अभिषेक कर केशर आदि सुगंधित पदार्थोंके मिले हुये सुगंध जलसे अभिषेक करना चाहिये, और फिर स्नपनपीठपर स्थापन किये हुये चारों पूर्ण कलशोंसे अभिषेक करना चाहिये। तदनंतर ऊपर लिखे अनुसार जिनका अभिषेक हो चुका है ऐसे श्रीजिनेंद्रदेवकी जल, गंध, अक्षत आदि अष्ट द्रव्यसे अच्छीतरह पूजन करनी चाहिये और फिर नित्य वंदना आदिकी विधिसे वंदनाकर अर्थात् नमस्कारकर अपनी शक्तिके

अनुसार उनको स्मरण करना चाहिये अर्थात् उनका जप अथवा ध्यान करना चाहिये ।

यहांपर इतना विशेष और समझ लेना चाहिये कि आचार्योंने छह प्रकारसे देवसेवन लिखा है जैसा कहा है-" प्रस्तावना पुराकर्म स्थापना सन्निधापनं । पूजा पूजाफलं चेति षड्विधं देवसेवनं " अर्थात् प्रस्तावना, पुराकर्म, स्थापना, सन्निधिकरण, पूजा और पूजाका

---

१ पूजा वा अभिषेक करनेकी प्रतिज्ञा करना प्रस्तावना है, जैसे "तस्यारंभे स्थापनां" अथवा "तथापि स्वस्य पुण्यार्थं प्रस्तुवेभिषवं तव" अर्थात् तथापि अपनी पुण्यवृद्धिके लिये आपका अभिषेक करना प्रारंभ करता हूं ।

पूजा वा अभिषेक करते समय पहिले करने योग्य विधिको पुराकर्म कहते है। जैसे-"पात्रः पूर्णान् कुंभान् कोणेषु सुपल्लवप्रसूनार्चान् दुग्धाब्धीनिव विदधे प्रवालमुक्तोल्वणांश्चतुरः" अर्थात्-"कोनोंपर पुष्प और पल्लवोंसे पूज्य ऐसे जलके भरे हुये पूर्णकुंभ इसप्रकार स्थापन करता हूं मानों मूंगा और मोतियोंसे सुशोभित चार क्षीरसागर ही हों ।

२ भगवानको विराजमान वा स्थापन करना स्थापना है ।

भगवानको अपने समीप वा हृदयमें विराजमान करना सन्निधिकरण है ।

पूजा करना पूजा है ।

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः इत्यादि प्रार्थना करना पूजाफल है।

नोट—यहांपर इतना और समझ लेना चाहिये कि पूजाका अंग जो स्थापना है वह स्थापना निक्षेप नहीं है क्योंकि स्थापना निक्षेपमें 'यह वही है' ऐसा संकल्प किया जाता है और इस

फल इन छह प्रकारसे देवसेवा की जाती है। इनमेंसे इस श्लोकमें 'आश्रुत्य स्नपनं' अर्थात् 'अभिषेककी प्रतिज्ञा करके' इस पदसे प्रस्तावना सूचित की है, "विशोध्य तदिलां" अर्थात् "उस भूमिको शुद्धकर इस पदसे पुराकर्म सूचित किया है, "न्यस्य" अर्थात् 'स्थापन वा विराजमान करके' इससे स्थापना सूचित की है, "अंतं आप्य" अर्थात् 'अपने आत्माके सन्निकट करके' इससे सन्निधिकरण कहा

पूजाके अंगभूत स्थापनामें ऐसा संकल्प नहीं किया जाता, किंतु "अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठःठः" अर्थात् यहां विराजमान हूजिये इत्यादि स्थान निर्देश किया जाता है। जिसप्रकार अपने यहां कोई अभ्यागत आता है तो उठकर कहते हैं आइये साहब पधारिये, (यह आह्वानका प्रतिरूपक है) यहां विराजिये (यह स्थापनाका प्रतिरूपक है) कहिये अच्छे तो हैं, बहुत दिनमें दर्शन दिये, आपके आनेसे बड़ी खुशी हुई (यह सन्निधिकरणका प्रातिरूपक हैं) तदनंतर भोजनादिसे संतुष्ट करते हैं (यह पूजाका प्रातिरूपक है) फिर जाते समय "कृपा रखिये, शीघ्र दर्शन दीजिये, आदि प्रार्थनाकर (यह पूजाफलका प्रतिरूपक है) विदा कर देते हैं (यह विसर्जनका प्रतिरूपक है) जिसप्रकार यह आदरसत्कारकी विधि है उसीप्रकार भगवानके आदरसत्कारकी विधि जानना चाहिये। अंतर केवल इतना है कि भगवान सर्वोत्कृष्ट हैं इसलिये उनकी पूजा वा आदरसत्कारकी विधि भी उत्तम है।

इसपरसे यह सिद्ध होता है कि स्थापना सन्निधिकरण आदि अवश्य करने चाहिये। जो नहीं करते हैं उनकी पूजाके उतने अंग कम हो जाते हैं।

है और 'इष्ट दिक्' अर्थात् "इंद्रादिकोंको यज्ञभाग देना, तथा आरती अभिषेक पूजन आदि करना इस पदसे पूजा सूचित की है। यह श्रीजिनेंद्रदेवके पूजन करनेका विधान केवल सूचना मात्र है अर्थात् अत्यंत संक्षिप्त है, इसका विस्तार पूर्वाचार्योंके किये हुये अभिषेकशास्त्रोंमें, अथवा हमारे बनाये हुये (श्रीमदाशाधरविरचित) नित्यमहोदय नामके अभिषेकशास्त्रोंमें देख लेना चाहिये ॥२२॥

आगे—अन्य यज्ञोंके करनेका उपदेश देते हैं—

सम्यग्गुरूपदेशेन सिद्धचक्रादि चार्चयन् ।
श्रुतं च गुरुपादांश्च को ही श्रेयसि तृप्यति ॥२३॥

अर्थ—गुरुके किये हुये सम्यक् उपदेशके अनुसार लघु सिद्धचक्र, बृहत्सिद्धचक्र, आदिशब्दसे पार्श्वनाथयंत्र, गणधरवलय, सारस्वतयंत्र तथा और भी जो सम्यक्त्व तथा संयमका विरोध न करनेवाले और इच्छानुसार प्रत्यक्ष परोक्ष फल देनेवाले ऐसे जैनशास्त्रोंमें प्रसिद्ध विधान हैं उनका पूजन करना चाहिये। इन विधानोंका निरूपण पदस्थ ध्यानके निरूपण करते समय करेंगे। इन सब विधानोंका पूजन गुरुके उपदेशके अनुसार करना चाहिये। यदि गुरुके उपदेशानुसार न किया जायगा तो संभव है कि उसमें कोई विघ्न आजाय, अथवा वह निष्फल जाय। तथा इनके सिवाय श्रुतज्ञान और दीक्षकाचार्यके चरणकमलोंकी पूजा करनी चाहिये। यहां पहिलेके दो चकार समुच्चय अर्थमें है और तीसरे चकारसे यह सूचित किया है कि सिद्धचक्र, श्रुतज्ञान और गुरुपाद ये तीनों ही समान पूज्य हैं। कदाचित् यहांपर कोई यह शंका करे

कि जिनयज्ञ करनेसे ही सब मनोरथोंकी सिद्धि हो जाती है फिर इष्टसिद्धि आदिके लिये सिद्धचक्रादिकी पूजन क्यों करनी चाहिये ? परंतु इसका समाधान श्लोकके चौथे पादसे किया है कि अभ्युदय और मोक्षके सिद्ध करनेके कामोंमें कौन पुरुष अपने आत्माको तृप्त मानता है ? अर्थात् कोई नहीं। इसलिये ऊपर लिखे हुये विधानोंकी पूजन करना उचित ही है ॥२३॥

ततः पात्राणि संतर्प्य शक्ति भक्त्यनुसारतः ।
सर्वांश्चाप्याश्रितान् काले सात्म्यं भुंजीत मात्रया ॥ २४ ॥

अर्थ—भोजन करनेके समय जिनयज्ञ आदि करनेके अनंतर अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार पहिले कहे हुये पात्रोंको अन्नदान आदिसे तृप्त कर तथा अपने आश्रित रहनेवाले नौकर चाकर पशु पक्षी आदि समस्त जीवोंको तृप्त कर अपनी मात्राके

---

१ बुभुक्षाकालो भोजनकालः अक्षुधितेनामृतमप्युपभुक्तं विषं भवति। क्षुत्कालातिक्रमादन्नद्वेषोदेहसादश्च भवति । विधमितेऽग्नौ किं नामेंधनं कुर्यात् ।

अर्थ—जिस समय भूख लगे वही भोजनका समय है, विना भूखके यदि अमृत भी खाया जाय तो वह भी विषके समान फल देता है। यदि भूखके समयको उल्लंघन कर दिया जाय, टाल दिया जाय तो भी अन्नसे अरुचि हो जाती है और शरीर शिथिल हो जाता है। सो ठीक ही है क्योंकि अग्निके बुझ जानेपर इंधन क्या कर सकता है। इसलिये जिस समय भूख लगी हो वही भोजनका समय है। (नीतिवाक्यामृत।)

२ यो मितं भुंक्ते स बहु भुंक्ते। न भुक्तिपरिमाणे सिद्धांतो-

अनुसार अपनी प्रकृतिके अविरुद्ध और स्वास्थ्य बढ़ानेवाले पदार्थोंका भोजन करना चाहिये। जो स्वास्थ्य बढ़ानेवाले हैं उन्हें सात्म्य कहते हैं। सात्म्यका लक्षण यह है " पानाहारादयो यस्याविरुद्धाः प्रकृतेरपि। सुखित्वायावकल्प्यंते तत्सात्म्यमिति कथ्यते, " अर्थात् " जो आहार पानी प्रकृति अविरुद्ध हों और सुखकर हों उसे सात्म्य कहते हैं। " सात्म्य भोजन भी मात्राके अनुसार खाना चाहिये। जितना अन्न सुखसे पच सके उसको मात्रा कहते हैं। जैसा लिखा है " सायं प्रातर्वा वन्हिमनवसादयन् भुंजीत " अर्थात् प्रातः-काल और सायंकाल दोनों समय इसप्रकार भोजन करना चाहिये कि जिससे जठराग्नि न बुझ जाय " तथा और भी लिखा है " गुरु-

---

ऽस्ति। वन्ह्यभिलाषायत्तं च भोजनं। अतिमात्रभोजी देहमाग्निं च विधुरयति। दीप्तो वन्हिर्लघुभोजनाद्बलं क्षपयति। अत्याशितु र्दुःखे-नान्नपरिणामः। श्रमार्त्तस्य पानं भोजनं च ज्वराय। भुक्त्वा व्यवाय-व्यायामौ सद्यो विपत्तिकारणं।

अर्थ—जो परिमित खाता है वह बहुत खाता है। कितना भोजन करना चाहिये इसका कुछ सिद्धांत नहीं है। क्योंकि उसका परिमाण जठराग्निकी अभिलाषाके आधीन है। जो बहुत खाता है वह शरीर और जठराग्निको नष्ट करता है। यदि जठराग्नि तेज हों और थोडा भोजन किया जाय तो बल नष्ट हो जाता है। अधिक खानेवालेका अन्न बड़ी कठिनतासे दुःखसे पचता है। परि-श्रमके बाद ही भोजन पान करनेसे ज्वर हो आता है। भोजन करनेके बाद तुरंत ही मैथुन और कसरत करनेसे बहुत शीघ्र रोग आदि विपत्तियां हो जाती हैं। (नीतिवाक्यामृत।)

णामर्द्धसौहित्यं लघूनां नाति तृप्तता । मात्राप्रमाणं निर्दिष्टं सुखं तावद्विजीर्यति" अर्थात् "अधिक भोजन करनेसे आधी तृप्ति होती है, थोड़ा भोजन करनेसे अच्छी तृप्ति नहीं होती । इसलिये अपनी मात्राके अनुसार उतना ही भोजन करना चाहिये कि जितना अच्छी तरह पच सके । वह भोजन भी भोजनके समयपर ही करना चाहिये। भोजनका समय शास्त्रोंमें इसप्रकार लिखा है—

प्रसृष्टे विण्मूत्रे हृदि सुविमले दोषे स्वपथगे
विशुद्धे चोद्गारे क्षुदुपगमने वातेऽनुसरति ।
तथाग्नावुद्रक्ते विशदकरणे देहे च सुलघौ
प्रयुंजीताहारं विधिनियमितं कालः स हि मतः ॥

अर्थ—जिससमय मलमूत्र सब साफ हो गये हैं, हृदय निर्मल हो, वात पित्त कफ सब अपने स्थानपर चले गये हों, कंठ मुह आदि सब शुद्ध हों, भूख लग रही हो, अधोवायु चलरहा हो, जठराग्नि उद्दीपित हो रही हो, इंद्रियां सब साफ हों, और शरीर हल्का हो उससमय विधिपूर्वक भोजन करना चाहिये । जिससमय इन सबका योग मिले वही भोजनका समय है ।

इस श्लोकमें भोजनका कोई नियमित समय नहीं लिखा है । भूख लगनेका समय ही भोजनका समय बतलाया हे । इससे यह सूचित होता है कि माध्याह्निक (दोपहरकी) देवपूजा और भोजन इनके समयका कुछ नियम नहीं है । मध्याह्नकालके पहिले भी यदि भूख तेज लगी हो तो उसीसमय अपने ग्रहण किये हुये त्यागको

पूर्णकर देवपूजा कर, पात्रोंको तृप्तकर, आश्रित जनोंको खिलाकर भोजन कर लेनेमें कोई दोष नहीं है॥ २४ ॥

लोकद्वयाविरोधीनि द्रव्यादीनि सदा भजेत् ।
यतेत व्याध्यनुत्पत्तिच्छेदयोः स हि वृत्तहा ॥२५ ॥

अर्थ—जो दोनों लोकोंके विरुद्ध न हों पुरुषार्थोंका घात करनेवाले न हों ऐसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, कर्म, और सहायक आदि पदार्थोंका सर्वदा सेवन करना चाहिये। तथा सदा ऐसा प्रयत्न करते रहना चाहिये कि जिससे ज्वर आदि रोग उत्पन्न न हो सकें। कदाचित् कारणवश ज्वरादि रोग उत्पन्न भी हो गया हो तो उसके दूर करनेका प्रयत्न करना चाहिये । क्योंकि ये ज्वर आदि रोग संयमके नाश करनेवाले हैं ॥२५॥

आगे—भोजन करनेके बाद करने योग्य विधि कहते हैं—

विश्रम्य गुरुसब्रह्मचारिश्रेयोर्थिभिः सह ।
जिनागमरहस्यानि विनयेन विचारयेत् ॥ २६ ॥

अर्थ—भोजनके अनंतर थोड़ा विश्राम लेकर शास्त्रका उपदेश देनेवाले गुरु, अपने समान आचरण करनेवाले, साथ पढ़नेवाले, कल्याण चाहनेवाले और आत्माका हित करनेवाले मनुष्योंके साथ विनयपूर्वक अरहंतदेवके कहे हुये सिद्धांतोंके तात्पर्योंका विचार करना चाहिये, अर्थात् इस पदार्थका स्वरूप ऐसा है अथवा नहीं है ऐसा निश्चय करना चाहिये । क्योंकि शास्त्रोंके रहस्य ऐसे हैं कि गुरुमुखसे सुननेपर भी यदि उनका वारवार परिशीलन नहीं किया

जाय तो वे चित्तमें दृढ़ताके साथ नहीं ठहर सकते । इसलिये उनका वारवार विचार करते रहना ही चाहिये ॥२६॥

तदनंतर—

सायमावश्यकं कृत्वा कृतदेवगुरुस्मृतिः ।
न्याय्ये कालेऽल्पशः स्वप्याच्छक्त्या चाब्रह्म वर्जयेत् ॥२७॥

अर्थ—सायंकालके समय देवपूजन सामयिक आदि करना चाहिये और फिर योग्य सोनेके समयमें अरहंतदेव, गुरु और उपदेशक लोगोंको स्मरण करके थोड़े समयतक सोना चाहिये । तथा अपनी शक्तिके अनुसार अर्थात् अपने संयमकी सामर्थ्यके अनुसार मैथुनका त्याग करना चाहिये । सोनेका योग्य समय रात्रिका प्रथम पहर अथवा आधी रात है । थोडा सोना चाहिये इसका यह अभिप्राय है कि जितने सोनेसे शरीरका स्वास्थ्य बना रहे उतना सोना चाहिये । यह कुछ विधि नहीं है क्योंकि दर्शनावरण कर्मके उदयसे निद्रा स्वयं आ जाती है । हां, इतना अवश्य है कि जितना सोना संसारमें बुरा नहीं गिना जाता उतना थोड़ा सोना चाहिये । इससे यह भी समझ लेना चाहिये कि यदि कोई रोग हो या मार्गकी थकावट हो तो ऐसे समय अधिक भी सोना चाहिये । तथा "अपनी शक्तिके अनुसार मैथुनका त्याग करना चाहिये" यह जो कहा है वह उपलक्षण है और यह स्मरण दिलाता है कि "यावन्न सेव्या विषयास्तावत्तानाप्रवृत्तितः व्रतयेत्" अर्थात् "जबतक विषय सेवन नहिं किये जाते हैं तबतकके लिये उनका अवश्य-

याग कर देना चाहिये" इत्यादि श्लोकके अनुसार भोगोपभोगोंका नियम किये विना क्षणभर भी रहना ठीक नहीं है ॥ २७ ॥

आगे—रात्रिके पिछिले पहर निद्राके भंग होनेपर वैराग्य भावनाओंका चिंतवन करना चाहिये ऐसा सत्रह श्लोकोंमें उपदेश देते हैं—

निद्राच्छेदे पुनश्चित्तं निर्वेदेनैव भावयेत् ।
सम्यग्भावितनिर्वेदः सद्यो निर्वाति चेतनः ॥२८॥

अर्थ—निद्राके भंग हो जानेपर चित्तमें संसार, शरीर, और विषयोंके वैराग्यका चिंतवन करना चाहिये । एव शब्दसे यह सूचित होता है कि उस समय धन लाभ आदिकी चिंता करना उचित नहीं है । इसका भी कारण यह है कि जिस आत्माने यथायोग्य रीतिसे वैराग्यका अभ्यास किया है वह तत्काल ही प्रशमरूप सुखका अनुभव करता है अर्थात् विरक्त हो जाता है ॥२८॥

आगे—संसारसे विरक्त होनेके लिये कहते हैं—

दुःखावर्ते भवांभोधावात्मबुध्याध्यवस्यता ।
मोहादेहं हहात्मायं बुद्धोऽनादि मुहुर्मया ॥२९॥

अर्थ—हाय हाय बड़ा कष्ट है कि जिसमें किसीसे रोके न जा सकें और वार वार अनियमित रीतिसे उठें ऐसे नरक आदि भवोंमें जन्ममरणरूप भयंकर भंवर उठ रहे हैं ऐसे इस संसाररूपी समुद्रमें मोहसे अर्थात् अविद्याके संस्कारसे इस शरीरको अपना जानकर अर्थात शरीरको ही आत्मा समझकर मैंने अनादिकालसे अपने आप ही अपना स्वरूप जाननेवाले आत्माको अनेकवार ज्ञाना-

वरणादि कर्मोंके पराधीन किया है। भावार्थ—मैंने अपनी ही भूलसे ज्ञानस्वरूप आत्माको अनेकवार ज्ञानावरणादि कर्मोंसे बांधा है ॥२९॥

इसलिये अब मुझे क्या करना चाहिये सो कहते हैं—

तदेनं मोहमेवाहमुच्छेत्तुं नित्यमुत्सहे ।
मुच्येतैतत्क्षये क्षीणरागद्वेषः स्वयं हि ना ॥३०॥

अर्थ—इसलिये मुझे इस मोहके अर्थात् अज्ञानके नाश करनेके लिये ही नित्य प्रयत्न करना चाहिये। एव शब्दसे यह सूचित होता है कि शरीरको नाश करनेके लिये प्रयत्न करना उचित नहीं है। मोहके नाश करनेका मुख्य कारण यह है कि रागद्वेष दोनों ही मोहसे उत्पन्न होते हैं इसलिये मोहके नाश हो जानेसे यह आत्मा विना किसी प्रयत्नके अपने आप राग द्वेष रहित हो जाता है और जब रागद्वेष रहित हो जाता है तब वह स्वयं मुक्त हो जाता है। इसलिये सबसे पहिले मोहको नाशकरनेके लिये ही प्रयत्न करना चाहिये। यहांपर आत्माके लिये ना अर्थात् पुरुष ऐसा शब्द दिया है और उस पुरुष शब्दसे सांख्य आदिके माने हुये प्रधान आदिका निषेध किया है ॥३०॥

आगे—यह जीव बंधसे होनेवाले संतानरूप अनर्थोंका विचारकर उस बंधके कारण ऐसे विषयसेवनोंके त्याग करनेकी प्रतिज्ञा करता है ऐसा कहते हैं—

बंधाद्देहोऽत्र करणान्येतैश्च विषयग्रहः ।
बंधश्च पुनरेवातस्तदेनं संहराम्यहं ॥३१॥

अर्थ—पहिले किये हुये कर्मके बंधसे अर्थात् पुण्यपापरूप

कर्मके फलसे शरीर प्राप्त होता है, फिर इस शरीरमें स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये इंद्रियां प्राप्त होती हैं, तथा इन इंद्रियोंसे अनुक्रमसे स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द ये विषय ग्रहण किये जाते हैं और फिर इन विषयोंके ग्रहण करनेसे ही शुभाशुभरूप कर्मपुद्गलोंका ग्रहण अर्थात् कर्मोंका बंध होता है तथा उस बंधसे फिर शरीर इंद्रियां विषय आदि प्राप्त होते हैं (यही परिपाटी बीज वृक्षके संतानकी तरह अनादिकालसे चली आई है, और इन्हींके द्वारा यह जीव अनादिकालसे संसारमें परिभ्रमण करता चला आया है) इसलिये मैं कर्मबंधके कारण ऐसे इन विषयोंको जड़से ही नाश करदूंगा ॥३१॥

आगे—इन विषयोंमें भी स्त्रीकी अभिलाषा अत्यंत दुर्निवार है इसलिये उसके निग्रह करनेका उपाय चिंतवन करनेके लिये कहते हैं—

ज्ञानिसंगतपोध्यानैरप्यसाध्यो रिपुः स्मरः ।
देहात्मभेदज्ञानोत्थवैराग्येणैव साध्यते ॥३२॥

अर्थ—जिन्हें अजैन लोग कामदेवरूप शत्रुके जीतनेमें प्रसिद्ध कारण मानते हैं ऐसे ज्ञानी पुरुषोंकी संगति करना, कायक्लेशरूप तपश्चरण करना और पदार्थोंके चिंतवनरूप ध्यान इन तीनोंसे अथवा एक दोसे जो असाध्य है, जीता नहीं जा सकता ऐसा कामदेवरूपी शत्रु, शरीर और आत्माके भेदज्ञानसे उत्पन्न हुये वैराग्यके द्वारा सहज निग्रह किया जाता है। कामदेव आत्माका

शत्रु है क्योंकि वह इस लोक संबंधी और परलोक संबंधी पुरुषार्थको नष्ट करनेसे आत्माकी हानि करनेवाला है। ऐसा वह कामदेवरूप शत्रु आत्मा और शरीरके भेदविज्ञान द्वारा उत्पन्न हुये वैराग्यसे जीता जाता है। क्योंकि औदारिक, वैक्रियक और आहारक ये तीनों ही शरीर कर्मजन्य हैं, पौद्गलिक हैं और आत्मा चिदानंदस्वरूप हैं। इसप्रकार दोनोंका जब अलग अलग ज्ञान होता है तब उस ज्ञानसे संसार शरीर और भोगोंसे वैराग्य अथवा इनसे उपेक्षा उत्पन्न होती है, और भोगोंसे वैराग्य वा उपेक्षा उत्पन्न होनेसे वह कामदेवरूपी शत्रु स्वयं भाग जाता है, नष्ट हो जाता है, वा जीता जाता है। अपि शब्द आश्चर्यद्योतक है। आश्चर्य यही है कि अन्य संप्रदायवालोंने कामदेवको वश करनेके लिये जो ज्ञानियोंका समागम, तप और ध्यान हेतु माने हैं वे उन्हींके मतमें वशिष्ठ पाराशर आदि तपस्वियोंसे व्यभिचारी हैं। क्योंकि उनमें ऊपर लिखे हुये तीनों ही हेतु विद्यमान होनेपर भी उनसे कामदेव नहीं जीता जा सका था। एवकार निश्चयद्योतक है। जहां भेदविज्ञान होता है वहां भोगोंसे उपेक्षा अवश्य होती है और भोगोंसे उपेक्षा होना ही कामदेवको जीतना है। इसलिये भेदविज्ञानसे वह अवश्य जीता जाता है ॥३२॥

आगे—वही जीव आत्मा और शरीरमें भेदविज्ञान समझनेके लिये जिन्होंने समस्त परिग्रहका त्याग कर दिया है ऐसे प्राचीन लोगोंकी स्तुति करता है और स्वयं स्त्रीमात्रका त्याग करनेमें भी असमर्थ होनेसे अपनी निंदा करता हुआ कहता है ऐसा कहते हैं—

धन्यास्ते येऽत्यजन् राज्यं भेदज्ञानाय तादृशं।
धिग्मादृक्कलत्रेच्छातंत्रगार्हस्थ्यदुःस्थितान् ॥३३॥

अर्थ—जिन्होंने तपश्चरण और श्रुतज्ञानके अभ्यासद्वारा उत्पन्न हुये पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त हुये साम्राज्य आदि भोगोपभोगोंका उपभोग किया और फिर अंतमें शरीर और आत्माके भेदविज्ञान जाननेके लिये पूजा, अर्थ, आज्ञा, ऐश्वर्य, वीर्य, परिजन, काम और भोगादिकोंसे तीनों लोकोंमें मान्य ऐसे साम्राज्यको जीर्ण तृणके समान छोड़ दिया ऐसे वे भरत सगर आदि पुरुष ही धन्य हैं पूज्य पुरुषोंके द्वारा भी प्रशंसनीय। हैं अब अपना दृष्टांत देकर जो विषयाभिलाषाके परतंत्र होकर गृहस्थधर्ममें अनेक दोषोंको जानते हुये भी उसको छोड़ नहीं सकते उनको तिरस्कार करता हुआ कहता है कि जिसमें स्त्रीकी इच्छा ही प्रधान है अथवा गृहस्थाश्रमके समस्त नित्य नैमित्तिक अनुष्ठान स्त्रीके साथ रहनेवाले (गृहस्थाश्रममें रहनेवाले) गृहस्थके द्वारा ही होते हैं इसलिये स्त्रीमें उत्पन्न होनेवाली अभिलाषाके आधीन ऐसे गृहस्थधर्मके दुःखसे दुःखी अर्थात् अनेक दुष्ट आधि व्याधियोंसे आकुलित ऐसे जो मेरे समान तत्त्वज्ञान होनेपर भी विषयभोगोंके त्याग करनेमें असमर्थ होकर विषयोंकी आशाके वशीभूत पाये जाते हैं उनको धिक्कार है अर्थात् मैं उनकी और अपनी बार बार निंदा करता हूं ॥ ३३ ॥

आगे—स्वयं अभिलाषा करती हुई उपशमरूपी लक्ष्मी और

स्त्री इन दोनोंमेंसे मुझे कौन वश कर सकती है और कौन नहीं सो कहते हैं—

इतः शमश्रीः स्त्री चेतः कर्षतो मां जयेन्नु का ।
आ ज्ञातमुत्तरैवात्र जेत्री या मोहराट्चमूः ॥३४॥

अर्थ—अतींद्रिय और इंद्रियसंबंधी सुखोंको जाननेवाले मुझे एक ओरसे प्रशम अर्थात् शांततासे उत्पन्न होनेवाली सुख संपत्ति अपनी ओर खींच रही है और दूसरी ओरसे स्त्री अपनी ओर खींच रही है । इसलिये मुझे संदेह है कि इन दोनोंमेंसे कौन बलवती है जो मुझे अपनी ओर खींचकर जय प्राप्त करेगी ? अथवा आ मुझे अरहंतदेवके उपदेशके अनुसार इन दोनोंका बल और अबल स्मरण हो आया अर्थात् मैंने दोनोंका बल निश्चित रीतिसे जान लिया कि स्त्री ही मुझे अपनी ओर खींचकर जय प्राप्त करेगी और प्रशम-रूपलक्ष्मीका तिरस्कार करेगी । प्रशमरूप लक्ष्मी स्त्रीको नहीं जीत सकती । क्योंकि स्त्री चारित्रावरणरूप मोहराजाकी एक सेना है । इसलिये वही जीत सकेगी । जिस प्रकार प्रतापी राजा अपनी सेना-के द्वारा अपने शत्रुको जीत लेता है उसीप्रकार यह मोहरूपी स्त्री सेनाके द्वारा प्रशमसुखको जीत लेगा । 'आः' यह संताप और प्रकोपको दिखलाता है अर्थात् स्त्री जीतेगी यह देखकर संताप होता है अथवा क्रोध आता है ॥३४॥

आगे—स्त्रीका त्याग करना अति कठिन है ऐसा कहते हैं—

चित्रं पाणिगृहीतीयं कथं मां विश्वगाविशत् ।
यत्पृथग्भावितात्मापि सम्मवैम्यनयां पुनः ॥३५॥

अर्थ—यह बड़ा आश्चर्य है कि मैंने जिसका केवल हाथ पकड़ा है ऐसी यह सामने दिखनेवाले विवाहिता स्त्री स्वीकार करनेवाले मेरे सर्वांग आत्मामें चारों ओरसे प्रविष्ट हो गई है अर्थात् मुझे अपने स्वरूप ही करलिया है ? क्योंकि तत्त्वज्ञानसे मैंने अपने अंतःकरणमें वार वार आत्माका चिंतवन किया है अर्थात् इस स्त्रीसे मैं भिन्न हूं, यह मुझसे भिन्न है, मैं अन्य हूं, यह अन्य है इसप्रकार आत्माको पृथक्रूपसे वार वार चिंतवन किया है तथापि मैं इसके साथ अभेदरूपसे परिणत होता हूं अर्थात् मैं इसरूप ही हूं, यह मुझरूप ही है इसप्रकार अभेदभावनामें परिणत होता हूं । यह बड़ा आश्चर्य है । अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि जब स्त्रीको सर्वथा भिन्न जानकर और भिन्नरूपसे वार वार चिंतवन करके भी उसके साथ अभेदरूपसे परिणत हो जाता है तब फिर मोहके वशसे उसे अभिन्न मानकर उसके साथ अभेदरूपसे परिणत हो जाय तो आश्चर्य ही क्या है ॥ ३५ ॥

आगे—आत्माके लिये इसप्रकार स्त्रीसे निवृत्त होनेका उपदेश देकर उस निवृत्त हुये आत्माको धनकी इच्छा करना उचित नहीं है ऐसा युक्तिपूर्वक कहते हैं—

स्त्रीतश्चित्त निवृत्तं चेन्ननु वित्तं किमीहसे ।
मृतमंडनकल्पोऽपि स्त्रीनिरीहे धनग्रहः ॥३६॥

अर्थ—हे मन ! हे अंतःकरण ! यदि तू भेदविज्ञानके बलसे स्त्रीसे निवृत्त हो चुका है अर्थात् तेरे स्त्रीकी अभिलाषा नहीं है तो फिर धनकी वांच्छा क्यों करता है ? कदाचित् कोई यह कहे

कि स्त्रीसे विरक्त होनेपर भी धनकी इच्छा करनेसे क्या हानि है ? परंतु इसका समाधान इसप्रकार करते हैं कि स्त्रीसे विरक्त होनेपर धनको उपार्जन करना रक्षण करना आदि मृतपुरुषके (मुरदेके) मंडन करनेके समान है । जिसप्रकार मुरदाके शरीरमें वस्त्रादिसे अलंकार करना व्यर्थ है क्योंकि वह अलंकार उसके भोगोपभोगमें नहीं आता उसीप्रकार जो पुरुष स्त्रीके विषयोंसे विरक्त हो गया है उसका धन ग्रहण करना व्यर्थ है । इसका कारण यह है कि संसारमें यह प्रसिद्ध है कि धन विषयसुखका साधन है और विषयसुखोंमें मुख्य सुख स्त्रीसेवनके आधीन है, महल बगीचा आदि तो केवल उसको उद्दीपन और सहायता करनेवाले हैं इसलिये वे सब गौण हैं अतएव स्त्रीमें जिसकी अभिलाषा नहीं है उसको और विषयोंसे भी क्या प्रयोजन है ॥३६॥

आगे—इसप्रकार वैराग्य चिंतवन करनेवाले पुरुषको परम सामयिककी भावना करनी चाहिये ऐसा सात श्लोकोंमें कहते हैं—

इति च प्रतिसंदध्यादुद्योगं मुक्तिवर्त्मनि ।
मनोरथा अपि श्रेयोरथाः श्रेयोऽनुबंधिनः ॥३७॥

अर्थ—आगे कहे हुये प्राण काय बल आदिको अस्थिर अनित्य आदि चिंतवन कर अपने उद्योगको वार वार मोक्षमार्गमें लगाना चाहिये अर्थात् मोक्षमार्गमें जानेके लिये वार वार उत्साह करते रहना चाहिये। चकारका अर्थ समुच्चय है अर्थात् केवल संसारादिसे वैराग्यका ही चिंतवन नहीं करना चाहिये किंतु मोक्षमार्गमें भी अपना चित्त लगाना चाहिये । यहांपर कदाचित् कोई यह शंका

करे कि जिनका आचरण नहीं किया जाता ऐसे मनोरथ स्वप्नराज्यके समान हैं अर्थात् आचरण करनेके विना चिंतवन करना व्यर्थ है तो इसका समाधान इसप्रकार करते हैं कि निश्रेयस अर्थात् मोक्षरूपी रथपर आरूढ़ (सवार) हो जानेसे अशक्य वस्तुकी अभिलाषारूप मनोरथ भी भव भवमें अनेक प्रकारकी विभूतियोंके संपादन करनेवाले हो जाते हैं, क्योंकि वे तीव्र पुण्यबंधके कारण हैं। अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि जब मनोरथ ही अभ्युदयके संपादन करनेवाले हैं तब फिर यदि उन मनोरथोंके अनुसार अनुष्ठान किया जाय तो फिर कहना ही क्या है, अवश्य ही उत्तम उत्तम विभूतियां प्राप्त होंगीं। कहा भी है "यत्र भावः शिवं धत्ते द्यौः कियद्दूरवर्तिनी" अर्थात् "जिस जिनमतमें केवल भावोंसे ही मोक्ष मिलती है वहां स्वर्ग कितना दूर है?" ॥२७॥

आगे—जीवका जीवितव्य आयुकर्म और शरीरमय ही है। इन दोनोंके विनाश होनेसे जीवितव्यका नाश होता है और उसके नाश होनेसे स्वार्थसिद्धिका नाश होता है ऐसा प्रबल युक्तिके द्वारा दिखलाते हैं—

क्षणे क्षणे गलत्यायुः कायो ह्रसति सौष्ठवात् ।
ईहे जरां नु मृत्युं नु सध्रीचीं स्वार्थसिद्धये ॥२८॥

अर्थ—मनुष्यादि भव धारण करनेका कारण ऐसा आयुकर्म क्षण क्षणमें क्षय होता रहता है तथा शरीर भी स्वार्थक्रियाकी कारणभूत सामर्थ्यसे प्रतिक्षण घटता रहता है। इसलिये क्या मैं अपनी अभिलाषा पूर्ण करनेमें बाधक ऐसे बुढ़ापेकी अर्थात् समस्त

शरीरकी शक्तिके क्षय होनेकी अथवा संपूर्ण आयुके नष्ट होनेरूप मरणकी इच्छा करूं ? अर्थात् कभी नहीं। भावार्थ—पुरुषार्थकी सिद्धि करनेके लिये आयु और शरीर प्रधान कारण हैं, और यह निश्चित है कि ये दोनों ही प्रतिक्षण क्षय होनेवाले हैं तब फिर भला पुरुषार्थकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् कभी नहीं हो सकती। इसलिये बुढ़ापा और मृत्यु दोनोंकी ही इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये ॥ ३८ ॥

आगे—जिनधर्मका पालन करते हुये यदि विपत्ति भी आवे तो उसकी स्तुति करते हैं तथा जिनधर्मके त्याग करनेसे संपत्ति भी प्राप्त हो तो उसका तिरस्कार करते हैं और इन दोनोंके परिग्रहके त्याग करनेमें दृढ़ता दिखलाते हैं—

क्रियासमभिहारोऽपि जिनधर्मजुषो वरं ।
विपदां संपदां नासौ जिनधर्ममुचस्तु मे ॥ ३९ ॥

अर्थ—जिनेंद्रदेवके कहे हुये शुद्धचिदानंदस्वरूप आत्मामें परिणति होनेरूप धर्मको प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले मुझको यदि शारीरिक मानसिक दुःख किंवा परिषह और उपसर्ग वार वार आवें अपि शब्दसे एकवार अथवा मंदरूपसे आवें अथवा वार वार अतिशय रूपसे आवें तो अच्छे हैं, प्रशंसनीय हैं, परंतु यथोक्त जिनधर्मको त्याग करनेवाले अथवा जिनधर्मसे रहित ऐसे मुझको यदि समस्त इंद्रियोंको सुख देनेवाली अनेक विभूतियां वार वार प्राप्त हों तोभी अच्छी नहीं हैं ॥ ३९ ॥

आगे—मुनियोंके आचरण करनेके अभ्याससे जो अन्य

किसीको प्राप्त नहीं हो सकती ऐसी समताकी सबजगह इच्छा करनी चाहिये ऐसा कहते हैं—

लब्धं यदिह लब्धव्यं तच्छ्रामण्यमहोदधिं ।
मथित्वा साम्यपीयुषं पिबेयं परदुर्लभं ॥४०॥

अर्थ—इस गृहस्थाश्रममें अथवा इस मनुष्य जन्ममें जो कुछ स्त्री संपदा आदि प्राप्त करना चाहिये अथवा पुण्यदानोंको जो संपादायें प्राप्त होती हैं वे सब मुझे प्राप्त हो चुकी हैं अर्थात् इसमें मैं कृतार्थ हो चुका हूं इसलिये अब मुझे मुनियोंके मूलगुण और उत्तरगुणोंके आचरणरूप महासमुद्रको मथन (अभ्यास) करके सर्वत्र समतारूप अमृतका पान करना चाहिये। जिसप्रकार यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'सुर असुरोंने क्षिरोदधिको मथनकर उसमेंसे निकले हुये अमृतको पिया था' उसीप्रकार मुनिधर्मको धारण कर समतारूप अमृत पीना चाहिये। यह समतारूप अमृत बहुत दुर्लभ है, जिनमार्गको न जाननेवाले अन्य संप्रदायके लोगोंको और सुर असुर लोगोंको तो मिल ही नहीं सकता, जिनमार्गको जानवालोंको भी यह अत्यंत कठिन है, बहुत थोड़े लोगोंको प्राप्त होता है। यह समता परिणाम परम तृप्तिका कारण है इसलिये ही इसे अमृतकी उपमा दी है। मुनिधर्मसे अनर्घ्य (अमूल्य) रत्नोंकी अर्थात् रत्नत्रयकी उत्पत्ति होती है तथा वह अत्यंत दुरवगाह (जिसमें कोई साधारण मनुष्य न जा सके) है और अपार है इसलिये ही उसे महासागरकी उपमा दी है। अभिप्राय यह है कि रात्रिमें नींद खुल

जानेपर मुनिव्रत धारणकर समता परिणाम धारण करनेके लिये सदा चिंतवन करते रहना चाहिये ॥४०॥

आगे—इसी समताके प्राप्त होनेके लिये फिर भी चिंतवन करना वतलाते हैं—

> पुरेऽरण्ये मणौ रेणौ मित्रे शत्रौ सुखेऽसुखे ।
> जीविते मरणे मोक्षे भवे स्यां समधीः कदा ॥४१॥

अर्थ—चारों प्रकारकी समृद्धिके स्थानभूत और प्रीतिके कारण ऐसे नगर तथा इससे विपरीत जंगल इन रागद्वेष उत्पन्न करनेवाले दोनोंमें कव एकसे परिणाम धारण करूंगा अर्थात् वह कौनसा समय आवेगा कि जव मैं प्रीतिके कारणोंसे प्रीति और द्वेषके कारणोंसे द्वेष छोड़कर उपेक्षारूप परिणत होऊंगा । तथा इसीप्रकार रत्न आदि मणि और धूलिमें उपकार करनेवाले मित्र और अपकार करनेवाले शत्रुमें प्रसन्न करनेवाले सुख और शरीर मनको संताप देनेवाले दुःखमें पुरूषार्थकी सिद्धिके कारण ऐसे जीवितव्य और उससे विपरीत मरणमें तथा अनंत सुख स्वरूप मोक्ष और उससे विपरीत दुःख स्वरूप संसारमें कव समता धारण करूंगा? यहांपर इतना विशेष जान लेना चाहिये कि नगर और जंगलोंमें समता अन्य लोगोंके भी हो सकती है परंतु यह परम वैराग्यमें इतना लीन हुआ है कि मोक्ष और संसारको भी समताबुद्धिसे अर्थात् एकसा देखता है। शास्त्रका वचन है कि " मोक्षे भवे च सर्वत्र निस्पृहो मुनिसत्तमः " अर्थात् श्रेष्ठ मुनि ही मोक्ष और संसार दोनोंसे सव जगह निस्पृह होते हैं ॥४१॥

आगे—मुनिधर्मके आचरणोंको उत्कृष्ट रीतिसे पालन करनेके चिंतवनको कहते हैं—

मोक्षोन्मुखक्रियाकांडविस्मापितबहिर्जनः ।
कदा लप्स्ये समरसस्वादिनां पंक्तिमात्मदृक् ॥४२॥

अर्थ—ऐसा कौनसा समय आवेगा कि जब मैं आत्माको साक्षात् देखनेवाला होकर अनंतज्ञानादि चतुष्टयके प्रगट होने स्वरूप मोक्षके सिद्ध करनेमें उद्यत हुये मुनियोंके क्रियाकांड अर्थात् गुरुकुलकी उपासना, क्लेश आतापन आदि योग और कायक्लेश आदिको उत्कृष्ट रीतिसे पालनकर बहिरात्मा लोगोंको चकित करता हुआ समरसका आस्वादन करनेवाले अर्थात् ध्याता, ध्येय, और ध्यानके एकरूप होनेसे केवल आनंदका आस्वादन करनेवाले बार बार उसी आनंदका अनुभव करनेवाले घटमान योगियोंकी अथवा निष्पन्न योगियोंकी पंक्तिमें प्राप्त होऊंगा भावार्थ—मैं उत्कृष्ट मुनिव्रत धारणकर कब उत्तम मुनियोंके समान होऊंगा ॥४२॥

आगे—वही श्रावक उत्कृष्ट योग धारण करनेकी इच्छा करता है ऐसा कहते हैं—

शून्यध्यानैकतानस्य स्थाणुबुध्यानुडुन्मृगैः ।
उद्घृष्यमाणस्य कदा यास्यंति दिवसा मम ॥४३॥

अर्थ—तत्त्वज्ञान और वैराग्यको धारण करनेवाले मेरे योगाभ्यास समयके वे दिन रात कब निकलेंगे कि जब मैं निर्विकल्पक समाधिमें लीन होऊंगा और गाय भैंस आदि ग्रामीण पशु और हिरण आदि जंगली जानवर मुझे किसी वृक्षका ठूंठ अथवा किसी

लकड़ीका खंभ समझकर मेरे शरीरसे अपने कंधे और सींग आदि रगड़ेंगे। भावार्थ—जब मैं नगरके बाहर ध्यानमें तल्लीन होकर कायोत्सर्गसे खड़ा हूंगा उस समय कंधे आदिमें खुजली होनेसे व्याकुल ऐसे इच्छानुसार फिरनेवाले गाय भैंस आदि पशु मुझे लकड़ीका खंभ समझकर अपनी खुजली मिटानेके लिये मेरे शरीरसे अपने कंधे आदि घिसेंगे तथा जब मैं वनमें जाकर ध्यानमें तल्लीन होकर कायोत्सर्गसे खड़ा हूंगा उससमय हिरण आदि जंगली जानवर मुझे ठूंठ समझकर अपनी खुजली मिटानेके लिये मेरे शरीरसे अपने कंधे आदि घिसेंगे और मैं नगर अथवा वन दोनोंमें रहनेके आग्रहसे रहित होकर शुद्ध चिदानंद स्वरूप अपने आत्मामें तल्लीन रहूंगा ऐसे शुभ दिन मुझे कब प्राप्त होंगे। इसप्रकार उस महात्माका मनोरथ होना चाहिये ॥४३॥

आगे—जिन प्राचीन प्रोषधोपवास करनेवाले श्रावकोंने प्रोषधोपवासकी महारात्रिमें नगरके बाहर कायोत्सर्गमें स्थित होकर अनेक उपसर्ग सहन किये हैं और अपने अचल योगसे चलायमान नहीं हुये हैं ऐसे श्रावकोंकी वह स्तुति करता है—

धन्यास्ते जिनदत्ताद्या गृहिणोऽपि न येऽचलन् ।
तत्तादृगुपसर्गोपनिपाते जिनधर्मतः ॥४४॥

अर्थ—जो गृहस्थ होकर भी शस्त्रप्रहार आदि शास्त्रोंमें कहे हुये अथवा उनके समान अन्य अनेक उपसर्ग उपस्थित होनेपर भी जिनेंद्रदेवके द्वारा कहे हुये अथवा उनके द्वारा सेवन किये हुये सामयिकसे चलायमान नहीं हुये हैं। ऐसे जिनदत्त श्रेष्ठि, वारिषेण-

कुमार आदि प्रोषधोपवास करनेवाले लोग ही धन्य हैं, वे ही पुण्यवान हैं, उनके लिये मैं भी वांच्छा करता हूं अर्थात् मैं भी ऐसे उपसर्गादि सहन करनेवाला होों ऐसी इच्छा करता हूं। अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि जब वे गृहस्थ होकर भी चलायमान नहीं हुये हैं तब वे मुनि होकर तो कभी भी चलायमान नहीं हो सक्ते ॥४४॥

आगे—व्रत प्रतिमाका उपसंहार करके उसके अनुष्ठान करनेवालेको क्या विशेष फल मिलता है सो कहते हैं—

> इत्याहोरात्रिकाचारचारिणि व्रतधारिणि ।
> स्वर्गश्रीः क्षिपते मोक्षश्रीर्पयेव वरस्रजं ॥४५॥

अर्थ—इसप्रकार जो ब्राह्म मुहूर्तमें उठना आदि दिनरातके कहे हुये आचरणोंको और पहिले कहे हुये व्रतोंको अतिचाररहित पालन करता है अर्थात् जो दूसरी व्रत प्रतिमाका पालन करता है उस श्रावकके गलेमें सौधर्म आदि स्वर्गोंकी लक्ष्मी मोक्षरूपी लक्ष्मीके साथ ईर्षा करके ही क्या मानों वरमाला डालती है। भावार्थ—जैसे कोई महाकुलीन कन्या पितादिकी आज्ञासे अपने अभीष्ट पतिके गलेमें इस बुद्धिसे वरमाला डालती है कि इसे कोई अन्य स्त्री न स्वीकार कर लेवे। इसीप्रकार इसको मोक्षस्त्री स्वीकार न कर लेवे ऐसी ईर्ष्यासे स्वर्गलक्ष्मी व्रतप्रतिमा पालन करनेवाले इस महाश्रावकके गलेमें माला डालती है, अर्थात् वह स्वयं इसे स्वीकार करती है ॥४५॥

इसप्रकार पंडितप्रवर आशाधरविरचित स्वोपज्ञ (निजविरचित) सागारधर्मामृतको प्रगट करनेवाली भव्यकुमुदचंद्रिका टीकाके अनुसार नवीन हिंदी भाषानुवादमें धर्मामृतका पंद्रहवां और सागारधर्मामृतका छठा अध्याय समाप्त हुआ ।

सातवां अध्याय ।

आगे—सामयिक आदि शेष नौ प्रतिमाओंका स्वरूप निरूपण करनेके लिये कहते हैं उसमें भी व्रत प्रतिमामें जो सामयिक शीलरूपसे कहा गया था वही व्रतरूप पालन करनेसे तीसरी प्रतिमा हो जाती है ऐसा दिखलाते हुये कहते हैं—

सुदृग्मूलोत्तरगुणग्रामाभ्यासविशुद्धधीः ।
भजंस्त्रिसंध्यं कृच्छ्रेऽपि साम्यं सामायिकी भवेत् ॥१॥

अर्थ—जिस व्रती श्रावककी बुद्धि निरतिचार सम्यग्दर्शन निरतिचार मूलगुण और निरतिचार उत्तरगुणोंके समूहके अभ्याससे विशुद्ध है अर्थात् प्रतिबंधक कर्मके नाश होनेसे सामयिक करनेके कारणोंमें समर्थ हो गई है ऐसा श्रावक प्रातःकाल मध्याह्नकाल और सायंकाल इन तीनों समयोंमें परिषह और उपसर्ग उपस्थित होनेपर भी समता अर्थात् मोह क्षोभ दोनोंसे रहित अपने परिणामोंको धारण करता है वह सामयिकी वा सामयिक प्रतिमाका धारण करनेवाला कहा जाता है ॥१॥

आगे—व्यवहार सामयिककी विधिको कहकर निश्चय सामयिक करनेका विधान कहते हैं—

कृत्वा यथोक्तं कृतिकर्मसंध्या त्रयेऽपि यावन्नियमं समाधेः ।
यो वज्रपातेऽपि न जात्वपैति सामायिकी कस्य स न प्रशस्यः॥२॥

अर्थ—जो व्रती श्रावक प्रातःकाल आदि तीनों समय तथा अपि शब्दसे अन्य समयमें भी आवश्यकाध्यायमें कहे हुये योग्य

काल योग्य आसन आदि वंदना कर्मका निरूपण किया है उसे जो व्रती श्रावक प्रातःकाल आदि तीनों समय तथा अपि शब्दसे अन्य समयमें भी करता है, अथवा अपि शब्दसे समता धारण करता है, वह व्यवहार सामयिक कहलाता है। तथा वही श्रावक यह व्यवहार सामयिक करके जबतक उसने समाधि धारण करनेकी प्रतिज्ञा की है तबतक वज्र वा बिजली पड़नेपर भी तथा अपि शब्दसे अन्य अनेक उपसर्ग आदि उपस्थित होनेपर भी कभी भी समाधिसे अर्थात् रत्नत्रयकी एकाग्रतारूप योगसे च्युत नहीं होता है वह सामायिक करनेवाला श्रावक किसी सामायिककी इच्छा करनेवालेसे अथवा इंद्रादि देवोंसे प्रशंसनीय नहीं गिना जाता अर्थात् सब उसकी प्रशंसा करते हैं। यह समाधिसे च्युत न होना निश्चय सामयिक है ॥२॥

आगे—निश्चय सामयिककी शिखरपर विराजमान अर्थात् उत्कृष्ट निश्चय सामयिक करनेवालेकी प्रशंसा करते हैं—

आरोपितः सामायिकव्रतप्रासादमूर्द्धनि ।
कलशस्तेन येनैषा भूरारोहि महात्मना ॥३॥

अर्थ—गणधर चक्रवर्ती और इंद्र आदि देव भी जिसकी स्पृहा करते हैं ऐसा जो महात्मा इस व्यवहार सामायिकपूर्वक

---

१ योग्यकालासनस्थानमुद्रावर्तशिरोनतिः ।
विनयेन यथाजातः कृतकर्मा मलं भजेत् ।

जो योग्य काल, आसन, स्थान, मुद्रा, आवर्त, शिरोनति क्रियायें करता है तथा विनयपूर्वक सर्व परिग्रहका त्याग कर सामयिक करता है वह सब दोषोंको दूर करता है।

निश्चय सामायिकरूपी पृथ्वीपर चढ़ा है अर्थात् जिसने व्यवहार सामायिकपूर्वक निश्चयसामयिक प्रतिमा धारण की है उसने केशबंध आदिके नियमित समयमें होनेवाले समतापरिणामरूप सामायिक व्रतरूपी मंदिरके शिखरपर कलश स्थापन किया ऐसा समझना चाहिये। सामायिक व्रतका प्राप्त होना कठिन है, प्राप्त होनेपर भी उसपर चढ़ना अर्थात् उसे धारण करना अति कठिन है और वह इष्टसिद्धिका कारण है इसलिये ही उसे मंदिरकी उपमा दी है। अभिप्राय यह है कि निश्चय सामायिक धारण कर जो तीसरी प्रतिमा पालन करता है सामायिक व्रत उसीका सफल और सुशोभित समझना चाहिये ॥३॥

आगे—चार श्लोकोंमें प्रोषधोपवास प्रतिमाका व्याख्यान करते हैं—

> स प्रोषधोपवासी स्याद्यः सिद्धः प्रतिमात्रये ।
> साम्यान्न च्यवते यावत्प्रोषधानशनव्रतं ॥ ४ ॥

अर्थ—जो श्रावक दर्शनप्रतिमा, व्रतप्रतिमा और सामायिक प्रतिमामें सिद्ध है अर्थात् तीनों प्रतिमाओंको निर्दोष रीतिसे पालन करता है और सोलह पहरतक जो प्रोषधोपवास व्रत स्वीकार किया है उतने समयमें भावसामयिकरूप समता परिणामोंसे कभी च्युत वा चलायमान नहीं होता उसे प्रोषधोपवास प्रतिमाको धारण करनेवाला प्रोषधोपवासी कहते हैं। जहां सात शीलोंमें प्रोषधोपवासका निरूपण किया है वहां समता परिणामोंसे च्युत होनेपर नाम सामायिक आदि पांचों प्रकारके सामायिकका आचरण करता है। परंतु

चौथी प्रतिमामें प्रोषधोपवास करनेवाला सोलह पहर समता परिणामोंसे ही व्यतीत करता है ॥ ४ ॥

आगे—प्रोषधोपवास करनेवाले श्रावकके महत्वकी मर्यादा दिखलाते हैं—

> त्यक्ताहारांगसंस्कारव्यापारः प्रोषधं श्रितः ।
> चेलोपसृष्टमुनिवद्भाति नेदीयसामपि ॥५॥

अर्थ—चारों प्रकारका आहार, स्नान, उवटन, सुगंधद्रव्योंका विलेपन, पुष्प, सुगंधित वस्त्र, और आभरण आदि शरीरके संस्कार, व्यापार और साहचर्यसे सावद्य आरंभ आदिका पूर्ण रीतिसे त्याग कर दिया है ऐसा प्रोषधोपवास करनेवाला श्रावक समीप बैठनेवाले लोगोंको अथवा भाई बंधु आदि कुटुंबी लोगोंको तथा अपि शब्दसे विशेषकर अन्य मतवालोंको ब्रह्मचर्य धारण करने और शरीरादिकसे ममत्व परिणाम छोड़ देनेसे जिन्हें उढाकर किसीने उपसर्ग किया है ऐसे परिग्रहरहित मुनिके समान शोभायमान होता है। भावार्थ—ब्रह्मचर्य धारण करने और ममत्व छोड़ देनेसे प्रोषधोपवासी श्रावक ठीक मुनिके समान जान पड़ता है केवल वस्त्रमात्रका अंतर रहता है। अपि शब्दसे आश्चर्य भी सूचित किया है अर्थात् आश्चर्य है कि श्रावक भी मुनिके समान जान पड़ता है। इस श्लोकसे यह भी सिद्ध होता है कि आहारका त्याग करना, अंगसंस्कारोंका त्याग करना, सावद्य व्यापारका त्याग करना और ब्रह्मचर्य धारण करना इसप्रकार प्रोषधोपवास चार प्रकारका है ॥ ५ ॥

आगे—सामायिक और प्रोषधोपवासको प्रतिमा सिद्ध करनेके लिये कहते हैं—

यत्प्राक् सामायिकं शीलं तद्व्रतं प्रतिमावतः।
यथा तथा प्रोषधोपवासोऽपीत्यत्र युक्तिवाक् ॥६॥

अर्थ—जो सामायिक व्रतप्रतिमा धारण करनेवाले श्रावकके शील कहलाता है और सामायिक प्रतिमावालेके व्रतरूप होता है उसीप्रकार जो प्रोषधोपवास व्रत प्रतिमावालेके शील कहलाता है वही प्रोषधोपवास चतुर्थ संयम विशेषके अनुष्ठान करनेवाले अर्थात् चौथी प्रतिमा पालन करनेवालेके व्रतरूप होता है। (भावार्थ—शील नाम अमुख्य व्रतोंका है। जैसे मुख्य खेतकी रक्षाके लिये अमुख्य रूपसे बाड़ लगाते हैं उसीप्रकार पांचों अणुव्रतोंकी रक्षाके लिये शील पालन किये जाते है। यदि खेतकी तरह बाड़की भी रक्षा की जाय तो वह भी मुख्यरूप गिनी जाती है। इसी तरह सामायिक और प्रोषधोपवास भी जो व्रत प्रतिमामें अमुख्यरूपसे गिने गये थे वेही यदि मुख्यरूपसे पालन किये जायं तो अलग अलग व्रत कहलाते हैं जिनको क्रमसे तीसरी और चौथी प्रतिमा कहते हैं। वह सिद्धांत स्वामी समंतभद्राचार्यके मतसे भी ध्वनित होता है क्योंकि उन्होने व्रत प्रतिमाका स्वरूप इसप्रकार कहा हैं "निरतिक्रमणमणुव्रतपंचकमपि शीलसप्तकं चापि" अर्थात् जो अतिचार रहित पांचों अणुव्रतोंको और सातों शीलोंको भी धारण करता है वह व्रती वा व्रत प्रतिमावाला कहलाता है। इस वाक्यमें अपि शब्दसे शील सप्तकके धारण करनेकी गौणता

दिखलाई है । इतना ही नहीं किंतु आचार्यने अलग अपि शब्द देकर शीलसप्तकको निरतिचारके विशेषणसे भी वंचित रक्खा है, अर्थात् ' निरतिक्रमण ' यह विशेषण केवल अणुव्रतोंका ही है शीलव्रतोंका नहीं । व्रत प्रतिमावाला अणुव्रतोंको ही निरतिचार पालता है शीलव्रतोंको नहीं । उनको वह सातिचार ही पालता है । यदि ऐसा न होता अर्थात् व्रत प्रतिमावाला शीलव्रतोंको निरतिचार ही पालता तो फिर साम्यिक और प्रोषधोपवासको पृथक प्रतिमा (प्रतिमारूपव्रत) माननेकी आवश्यकता न होती क्योंकि उनकी पूर्णता और मुख्यता वहीं हो चुकती । इसलिये सिद्ध है कि मूलगुणरूपसे पालन करनेवाला अणुव्रतोंको सातिचार पालता है और उनकी रक्षाके लिये गौणरूपसे शीलव्रत पालता है । तथा व्रतप्रतिमा पालन करनेवाला अणुव्रतोंको निरतिचार पालन करता है शीलव्रतोंको उसीप्रकार गौणरूपसे सातिचार पालन करता है । सामायिक प्रतिमावाला और प्रोषधोपवास प्रतिमावाला सामायिक और प्रोषधोपवासको निरतिचार और मुख्यरूपसे पालन करता है । बस, सामायिक और प्रोषधोपवासको पृथक् प्रतिमा सिद्ध करनेके लिये यही शास्त्रकारोंकी युक्ति है ॥ ६ ॥

आगे—उत्कृष्ट रीतिसे प्रोषधोपवासको पालन करनेवाले श्रावकोंकी प्रशंसा करते हैं—

निशां नयंतः प्रतिमायोगेन दुरितच्छिदे ।
ये क्षोभ्यंते न केनापि तान्नुमस्तुर्यभूमिगान् ॥ ७ ॥

अर्थ—जो अशुभ कर्मके नाश करनेके लिये मुनियोंके समान कायोत्सर्गरूप प्रतिमायोग धारणकर पर्वदिनोंकी रात्रियोंको व्यतीत करते हैं और जो किसी भी परिषह और उपसर्गके द्वारा अपनी समाधिसे च्युत नहीं होते ऐसे चौथी संयम विशेषकी पदवीको प्राप्त अर्थात् प्रोषधोपवास प्रतिमा धारण करनेवालेके लिये हम नमस्कार करते हैं ॥ ७ ॥

आगे—चार श्लोकोंमें सचित्तत्याग प्रतिमाको कहते हैं—

हरितांकुरबीजांबुलवणाद्यप्रासुकं त्यजन् ।
जाग्रत्कृपश्चतुर्निष्ठः सचित्तविरतः स्मृतः ॥ ८ ॥

अर्थ—जिसके हृदयमें सर्वदा अनुकंपा वा दया स्फुरायमान रहती है अर्थात् जो दयाकी मूर्ति है और जो लिखी हुई चारों प्रतिमाओंका पूर्णरूपसे निर्वाह करता है ऐसा जो श्रावक अप्रासुक अर्थात् अग्निमें नही पके हुये हरे अंकुर, जो बोनेसे उपज सकें ऐसे हरे बीज, जव, लवण, और आदि शब्दसे कंद, मूल, फल, पत्र, करीर आदि पदार्थोंका त्याग करता है, हरे पदार्थोंको अप्रासुक नहीं खाता वह शास्त्रोंमें सचित्तविरत श्रावक कहा जाता है ।

इस श्लोकके दूसरे पादमें नौ अक्षर हैं और अनुष्टप् श्लोकके एक चरणमें नौ अक्षर होना छंदशास्त्रके सामान्य नियमसे विरुद्ध है तथापि विशेष नियमोंके अनुसार और कहीं कहीं शिष्टपुरुषोंके प्रयोगानुसार इसमें दोष नहीं है " वृषभाद्या वर्द्धमानांता जिनेंद्रा दश पंच च " इत्यादि पूर्वाचार्योंके प्रयोगोंमें भी नौ अक्षर देखे

जाते हैं । अथवा " हरितांकुरबीजाबूलवणाद्यप्रासुकं त्यजन् " ऐसा पाठ मानना चाहिये, क्योंकि अंबु और अप् दोनोंका अर्थ जल ही होता है ॥८॥

आगे—'दयाकी मूर्ति इस विशेषणका समर्थन करते हैं—

पादेनापि स्पृशन्नर्थवशाद्योऽति ऋतीयते ।
हरितान्याश्रितानंतनिगोतानि स भोक्ष्यते ॥९॥

अर्थ— जो पांचवीं प्रतिमाके धारण करनेमें उद्यत हुआ श्रावक किसी प्रयोजनसे केवल पैरोंसे ही अनंतनिगोदके आश्रित ऐसी हरितकाय साधारण शरीर वनस्पतियोंको स्पर्श करता हुआ भी पाक्षिक श्रावककी अपेक्षा अत्यंत घृणा करता है वह क्या कभी उन पदार्थोंका भक्षण करेगा ? अर्थात् कभी नहीं । अभिप्राय यह है कि विना प्रयोजन स्थावर जीवोंकी विराधना करनेका तो वह त्यागी ही है । केवल प्रयोजनके वश होकर पैरोंसे स्पर्श करता हुआ भी जब घृणा करता है तब फिर हाथसे स्पर्श करनेकी तो बात ही क्या है और जो स्पर्श करनेसे ही घृणा करता है तब फिर वह उसे भक्षण कैसे कर सकता है ? महापुराणमें भी ब्राह्मण निर्मापण करनेके समय लिखा है " संत्ये वानंतशो जीवा हरितेष्वंकुरादिषु । निगोता इति सार्वज्ञं देवास्माभिः श्रुतं वचः । " अर्थात् जो मनुष्य निगोदरूप हरे अंकूरेसे भरे हुये भरतके आंगनको उल्लंघनकर नहीं आये थे उन्होंने इसका कारण पूछनेपर कहा था कि हे देव ! हरित अंकुरादिमें निगोद अनंतानंत जीव विद्यमान हैं ऐसा हमने श्रीसर्वज्ञदेवके वचनोंमें सुना है ॥९॥

आगे—सचित्तविरतकी स्तुति करते हैं-

अहो जिनोक्तिनिर्णीतिरहो अक्षजितिः सतां ।
नालक्ष्यजंत्वपि हरित् प्सांत्येतेऽसुक्षयेऽपि यत् ॥ १० ॥

अर्थ—सचित्तत्याग प्रतिमाके पालन करनेमें प्रयत्न करते हुये सज्जन पुरुषोंका जिनागममें श्रद्धान करना भी कैसा आश्चर्यजनक है ? तथा उनका इंद्रियविजय भी कैसा आश्चर्यजनक है ? क्योंकि ये सज्जन अपने प्राणोंके क्षय होनेपर भी जिनमें हम लोगोंको जीव जंतु दिखाई नहीं पड़ते केवल आगमसे जाने जाते हैं ऐसे हरित पदार्थोंको भी नहीं खाते हैं । अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि जब ये जिनमें जीव साक्षात् दिखाई नहीं देते केवल आगमसे माने जाते हैं ऐसे पदार्थोंको भी नहीं खाते हैं तो फिर जिनमें जीव दिखाई पड़ते हैं अथवा अनुमानसे सिद्ध होते हैं उनको किसी भी प्रकारसे नहीं खा सकते । दूसरे अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि जब ये प्राणोंके नाश होनेपर भी हरित पदार्थ नहीं खाते हैं तब फिर अन्य किसीप्रकारसे जीवनकी संभावना होनेपर वे कभी नहीं खा सकते । इस श्लोकमें अलक्ष्यजंतु अर्थात् जिनमें जीव साक्षात् दिखाई नहीं देते पद दिया है उससे उस श्रावकका जिनागमको प्रमाण माननेमें परम विश्वास सिद्ध होता है और " असुक्षयेपि " अर्थात् " प्राण नाश होनेपर भी " ऐसा जो लिखा है उससे परम जितेंद्रियपना सिद्ध होता है ॥ १० ॥

आगे—जो सचित्तभोजन भोगोपभोगपरिमाणशीलके अति-

चारोंमें कहा था उसका त्याग करना ही यह पांचवीं प्रतिमा होती है ऐसा उपदेश देते हैं—

सचित्तभोजनं यत्प्रागमलत्वेन जिहासितं ।
व्रतयत्यंगिपंचत्वचकितस्तच पंचमः ॥११॥

अर्थ—सचित्तत्याग पांचवीं प्रतिमाको धारण करनेमें उद्यत हुआ श्रावक सचित्त द्रव्योंके खानेमें उनके आश्रित ऐसे अनेक जीवोंके मरनेसे भयभीत होकर जिन सचित्त भोजनोंको भोगोपभोगपरिमाण नामक शीलके अतिचार समझकर छोड़ना चाहता था वा छोड़नेके योग्य समझता था उन्हींको व्रतरूपसे त्याग कर देता है। भावार्थ— भोगोपभोगपरिमाणका जबतक अभ्यास किया जाता है तबतक शील संज्ञा रहती है और जब पूर्ण अभ्यासकर सचित्त भोजन आदि उसके अतिचारोंको भी त्याग कर देता है तब वही व्रत वा पांचवीं प्रतिमा गिनी जाती है।

स्वामी समंतभद्राचार्यने भोगोपभोगपरिमाणके अतिचार कुछ निराले ही कहे हैं और पांचवीं प्रतिमाका स्वरूप इसप्रकार लिखा है "मूलफलशाकशाखाकरीरकंदप्रसूनबीजानी। नामानि योऽत्ति सोऽयं सचित्तविरतो दयामूर्तिः॥" अर्थात् "जो मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, कंद, फूल और बीजोंको सचित्त नहीं खाता है वह दयाकी मूर्ति सचित्तत्याग पांचवीं प्रतिमाका धारण करनेवाला है ॥११॥

आगे—चार श्लोकोंमें रात्रिभक्तव्रतप्रतिमाका व्याख्यान करते हैं और उसमें भी पहिले उसका लक्षण कहते हैं—

स्त्रीवैराग्यनिमित्तैकचित्तः प्राग्वृत्तनिष्ठितः।
यस्त्रिधाह्नि भजेन्न स्त्रीं रात्रिभक्तव्रतस्तु सः ॥१२॥

अर्थ—पहिले कही हुई पांचों प्रतिमाओंको पालन करनेवाला श्रावक स्त्रीसे वैराग्य होनेके कारण ऐसे कामदोष, स्त्रीदोष, स्त्रीसंगदोष, अशौच और अनार्यसंगति इन पांचों दोषोंको एकाग्रचित्तसे चिंतवन करता हुआ जो दिवसमें मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे किसी भी स्त्रीको सेवन नहीं करता है उसको रात्रिभक्तविरत अर्थात् दिवामैथुनत्यागी वा केवल रात्रिमें ही स्त्रीसेवन करनेवाला कहते हैं ॥१२॥

आगे—छट्ठी प्रतिमाको पालन करनेवाले श्रावककी स्तुति करते हैं—

अहो चित्रं धृतिमतां संकल्पच्छेदकौशलं।
यन्नामापि मुदे सापि दृष्टा येन तृणायते ॥१३॥

अर्थ—संतोष भावनाको चिंतवन करनेवाले धीरवीर पुरुषोंका उनके अंतःकरणमें होनेवाले व्यापारोंके निरोध करनेकी सामर्थ्य अत्यंत आश्चर्यजनक है क्योंकि जिसके दर्शन आदि तो दूर रहो केवल नाम सुनने मात्रसे ही नेत्रादिकोंमें प्रेमका विकार उत्पन्न हो आता है ऐसी स्त्रीको प्रत्यक्ष देखकर भी उसे मनके व्यापारोंके निरोध करनेकी सामर्थ्यसे वह तृणके समान मानता है अर्थात् वे स्त्रीयाँ तृणके समान अभोग्य जान पड़ती हैं। अपि शब्दसे यह सूचीत होता है कि जब वह प्रत्यक्ष देखकर ही तृणके समान मानता है तब फिर सुनकर अथवा चिंतवनकर तो अवश्य

ही मानता होगा। क्योंकि गृहस्थोंका स्वस्त्रियोंकेप्रति प्रेम और कटाक्ष आदि नेत्रव्यापार ही दुःख देनेवाले हैं। दूसरे अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि जब उसके नाम सुननेसेही प्रेम चढ़ता है तब फिर उसके दर्शनसे तो कहना ही क्या है? ॥१३॥

आगे—ऐसे विरक्त पुरुषको रात्रिमें भी मैथुननिवृत्तिका प्रतिपादन करते हुये कहते हैं—

> रात्रावपि ऋतावेव संतानार्थमृतावपि।
> भजंति वशिनः कांतां न तु पर्वदिनादिषु ॥१४॥

अर्थ—वे जितेंद्रिय पुरुष रात्रिमें भी केवल ऋतुकालमें अर्थात् रजोदर्शनसे चौथे दिन स्नान करनेके बाद ही स्त्रीको सेवन करते हैं अन्य किसी कालमें नहीं। तथा उस ऋतुकालमें भी सेवन करते हुये केवल संतानके लिये ही सेवन करते हैं विषयसुखके लिये नहीं। यहांपर एव शब्द संदंशक (संडासी) न्यायसे संतान अर्थमें भी लगालेना चाहिये, अर्थात् वे संतानके लिये ही सेवन करते हैं विषयसुखके लिये नहीं। तथा अष्टमी, चतुर्दशी, अष्टाह्निक, दशलाक्षणिक आदि धर्मकार्य करने योग्य पर्वके दिनोंमें और आदि शब्दसे अमावास्या ग्रहण आदिके दिनोंमें किसी प्रकार भी स्त्रीसेवन नहीं करते ॥१४॥

आगे—चारित्रसार आदि शास्त्रोंके अनुसार रात्रिभक्तव्र-

---

१ वैद्यकशास्त्रके अनुसार सोलह दिनतक ऋतुकाल गिना जाता है उसमेंसे चार दिन रजोदर्शनके निकल जाते हैं शेषके बारह दिन तक ऋतुकाल गिना जाता है।

तका निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहकर रत्नकरंडश्रावकाचार आदिमें कहे हुये अर्थके अनुसार उसका अर्थ कहते हैं—

रात्रिभक्तव्रतो रात्रौ स्त्रीसेवावर्तनादिह।
निरुच्यतेऽन्यत्र रात्रौ चतुराहारवर्जनात् ॥ १५॥

अर्थ—चारित्रसार आदि ग्रंथोंके अनुसार वर्णन करनेवाले इस ग्रंथमें इस प्रतिमाको रात्रिमें स्त्रीसेवनका व्रत ग्रहण करनेसे अर्थात् "रात्रिमें ही स्त्रीसेवन करूंगा दिनमें नहीं" ऐसा व्रत ग्रहण करनेसे रात्रिभक्तव्रत प्रतिमा कहते हैं। रात्रौ भक्तं स्त्रीभजनं व्रतयति अर्थात् जो रात्रिमें ही स्त्रीसेवनका नियम लेता है उसे रात्रिभक्तव्रती कहते हैं। तथा रत्नकरंड आदि अन्य शास्त्रोंमें रात्रिमें चारों प्रकारके आहार छोड़ देनेसे रात्रिभक्तव्रत प्रतिमा कहते हैं। "रात्रौ भक्तं चतुर्विधमप्याहारं व्रतयति प्रत्याख्यातीति" अर्थात् जो रात्रिमें भक्त अर्थात् चारोंप्रकारके आहारोंका व्रत लेता है, छोड़ देता है वह रात्रिभक्त व्रती है। स्वामी समंतभद्राचार्यने भी यही लिखा है "अन्नं पानं खाद्यं लेह्यं नाश्नाति यो विभावर्यां। स च रात्रिभक्तविरतः सत्त्वेष्वनुकंपमानमनाः" अर्थात् "जिसके हृदयमें प्राणियोंकी दया स्फुरायमान है ऐसा जो श्रावक रात्रिमें अन्न, पान, खाद्य और लेह्य ये चारों प्रकारके आहारोंका त्याग कर देता है नहीं खाता है वह रात्रिभक्तविरत अर्थात् रात्रीभोजनका त्यागी छट्ठी प्रतिमावाला कहलाता है ॥ १५ ॥

१ श्रीसोमदेवकृत नीतिवाक्यामृतके दिवसानुष्ठानसमुद्देशमें लिखा है—"कोकवद्दिवाकामो निशि भुंजीत। चकोरवन्नक्तंकामो दिवापक्वं"

आगे—ब्रह्मचर्य प्रतिमाका निरूपण करते हैं—

तत्तादृक्संयमाभ्यासवशीकृतमनास्त्रिधा ।
यो जात्वशेषा नो योषा भजति ब्रह्मचार्यसौ ॥ १६ ॥

अर्थ—पहिले कही हुई छह प्रतिमाओंके अनुक्रमके अनुसार प्राणिपरिहारसंयम अर्थात् छह कायके जीवोंकी रक्षा करना तथा इंद्रियसंयम अर्थात् पंचेंद्रिय और मनको वशमें रखना इन दोनोंकी भावनासे जिसका मन वश होगया है ऐसा जो श्रावक मन वचन कायसे कभी भी अर्थात् रात्रि वा दिनमें मनुष्यणी, देवी, तिर्यंचिणी अथवा उनकी मूर्ति आदि समस्त स्त्रियोंमेंसे किसी भी स्त्रीका सेवन नहीं करता उसको ब्रह्मचारी अर्थात् चारित्र, आत्मा, अथवा ज्ञानमें लीन होनेवाला कहते हैं ॥ १६ ॥

आगे—ब्रह्मचारीकी स्तुति करते हैं—

अनंतशक्तिरात्मेति श्रुतिर्वस्त्वेव न स्तुतिः ।
यत्स्वद्रव्ययुगात्मैव जगज्जैत्रं जयेत्स्मरं ॥१७॥

अर्थ—इस आत्माकी अनंत शक्ति है अर्थात् अनंत अर्थ क्रिया

अर्थात् "जो कोक पक्षीके समान दिनमें ही मैथुन करनेकी इच्छा रखते हैं उन्हें रात्रिमें भोजन करना चाहिये, और जो चकोर पक्षीके समान रात्रिमें मैथुन करनेकी इच्छा रखते हैं उनको दिनमें भोजन करना चाहिये।" इससे यह सिद्ध होता है कि जो केवल रात्रिमें ही स्त्रीसेवन करता है अर्थात् दिवामैथुनत्यागी है उसको ऊपर लिखी नीतिके अनुसार दिनमें ही भोजन करना चाहिये रात्रिमें नहीं इसप्रकार दिवामैथुनत्याग और रात्रिभोजनत्याग इन दोनोंका एक ही अर्थ है केवल नाम अलग अलग हैं ।

करनेकी सामर्थ्य है ऐसी वास्तविक श्रुति वा अरहंतदेवका उपदेश है। यह श्रुति स्तुतिरूप नहीं है किंतु यथार्थ है। जहां गुण थोड़े होते हैं और उनकी बहुतायत दिखलाई जाती है उसको स्तुति कहते हैं। आत्माकी अनंतशक्ति सिद्ध करनेके लिये एक यही हेतु बहुत है कि पर द्रव्यसे निवृत्त होकर केवल आत्मद्रव्यमें लीन हुआ यह आत्मा पर द्रव्यमें प्रवृत्त होनेवाले संसारके प्राणियोंको जीतनेवाले कामदेवको भी जीत लेता है। भावार्थ—संसारको जीतनेवाले कामदेवको जीतनेसे ब्रह्मचारीको अनंतशक्ति सिद्ध होती है ॥१७॥

आगे—मंदबुद्धि मनुष्योंको अच्छीतरह समझानेके लिये ब्रह्मचर्यका माहात्म्य दिखलाते हैं—

> विद्या मंत्राश्च सिध्यंति किंकरंत्यमरा अपि ।
> क्रूराः शाम्यंति नाम्नापि निर्मलब्रह्मचारिणां ॥१८॥

अर्थ—अतिचार रहित निर्मल ब्रह्मचर्यको पालन करनेवाले पुरुषोंको साधनसे सिद्ध होनेवाली विद्या और पढ़नेसे सिद्ध होनेवाले मंत्र ये दोनों ही सिद्ध हो जाते हैं अर्थात् इच्छानुसार वर देते हैं। तथा देव भी सेवकके समान उनकी सेवा करते हैं। अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि जब देव ही उनकी सेवा करते हैं तब मनुष्य और तिर्यंचोंका तो कहना ही क्या है। इसके सिवाय उनके केवल नाम उच्चारण करनेसे ही ब्रह्मराक्षस आदि क्रूर जीव शांत हो जाते हैं उपसर्ग आदि कार्योंसे हट जाते हैं। अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि जब नाम लेनेसे ही वे शांत हो जाते हैं

तब वे यदि समीप हों तो फिर कहना ही क्या है अवश्य ही शांत हो जायंगे ॥१८॥

आगे—प्रकरणवशसे ब्रह्मचर्याश्रमका थोड़ासा व्याख्यान करते हैं—

प्रथमाश्रमिणः प्रोक्ता ये पंचोपनयादयः ।
तेऽधीत्य शास्त्रं स्वीकुर्युर्दारानन्यत्र नैष्ठिकात् ॥१९॥

अर्थ—उपनयब्रह्मचारी, अवलंबब्रह्मचारी, अदीक्षाब्रह्मचारी, गूढ़ब्रह्मचारी और नैष्ठिकब्रह्मचारी ये पांच प्रकारके ब्रह्मचारी ब्रह्मचर्याश्रमको पालन करनेवाले अर्थात् मौंजीबंधनपूर्वक व्रतोंका अनुष्ठान करनेवाले शास्त्रोंमें कहे हैं । इनमेंसे नैष्ठिकको छोड़कर शेषके चार ब्रह्मचारी उपासकाध्ययन आदि शास्त्रोंको पढ़कर स्त्रीको स्वीकार कर सकते हैं ।

जो गणधरसूत्रको धारण करनेवाले हैं अर्थात् मौंजीबंधनविधिके अनुसार यज्ञोपवीतको धारणकर उपासकाध्ययन आदि शास्त्रोंको पढ़नेके लिये विवाह होने पर्यंत गुरुकुलमें रहते हैं उनको उपनय ब्रह्मचारी कहते हैं। ऐसे ब्रह्मचारी कमसे कम उपासकाध्ययन पढ़कर गृहस्थधर्म स्वीकार करते हैं। जो क्षुल्लकरूप धारण कर आगमका अध्ययन करते हैं उनको अवलंब ब्रह्मचारी कहते हैं। ऐसे ब्रह्मचारी आगमका अभ्यासकर गृहस्थधर्म स्वीकार करते हैं। जो ब्रह्मचर्यके वेष धारण न करके शास्त्रोंका अध्ययन करते हैं उनको अदीक्षा ब्रह्मचारी कहते हैं। ऐसे ब्रह्मचारी भी आगमका अभ्यासकर गृहस्थधर्म स्वीकार करते हैं। जो कुमार अवस्थामें ही मुनि

होकर जिनागमका अभ्यास करते हैं वे यदि पिता भाई आदिके अति आग्रहसे अथवा घोर परिषहोंके सहन न करनेसे किंवा राजाकी किसी विशेष आज्ञासे वा अपने आप ही अरहंत परमेश्वरका रूप अर्थात् दिगंबरपना छोड़कर गृहस्थधर्म स्वीकार करते हैं उनको गूढ़ब्रह्मचारी कहते हैं। तथा जो मस्तकपर शिखा रखकर शिरोलिंग और यज्ञोपवीत धारण कर वक्षोलिंग धारण करते हैं, जो सफेद वस्त्र अथवा लालवस्त्रकी कोपीन (लंगोटी) धारणकर कटिचिन्ह धारण करते हैं, जो सदा भिक्षावृत्तिसे निर्वाह करते हैं और जो सदा जिनपूजा स्वाध्याय आदिमें तत्पर रहते हैं उनको नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं। ये नैष्ठिक ब्रह्मचारी फिर गृहस्थधर्म स्वीकार नहीं करते हैं ॥१६॥

आगे—कदाचित् कोई यह पूछे कि जिनदर्शनमें वर्णाश्रम-व्यवस्था कहां है तो उसके लिये कहते हैं—

ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो भिक्षुश्च सप्तमे ।
चत्वारोऽगे क्रियाभेदादुक्ता वर्णवदाश्रमाः ॥२०॥

अर्थ—जिसप्रकार धर्मक्रियाओंके भेदसे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण होते हैं उसीप्रकार धर्मक्रियाओंके भेदसे ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और भिक्षु ये चार प्रकारके आश्रम सातवें उपासकाध्ययन अंगमें कहे हैं। अन्यत्र कहा भी है—ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः। इत्याश्रमास्तु जैनानां सप्तमांगाद्विनिःसृताः। अर्थात् ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और भिक्षुक ये चार आश्रम जैनियोंके सातवें अंगसे निकले हैं।

जिनमें शास्त्रमें लिखे हुये समयपर्यंत अपनी शक्तिके अनुसार श्रम वा तपश्चरण किया जाय उनको आश्रम कहते हैं। क्रियाओंके भेद होनेसे उनमें भेद होजाता है। उनकी क्रियायें संक्षेपसे इस प्रकार हैं—

ब्रह्मचारी क्रिया—ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वर्णोंको द्विज कहते हैं। इन द्विजोंके लड़कोंको गर्भसे आठवें वर्ष जिनालयमें लेजाकर उनसे जिनेंद्रदेवकी पूजन करावे फिर उनका मुंडन करावे (वह शिरका चिन्ह कहलाता है), तदनंतर मूंजकी रस्सीको तिहरी कर उनकी कमरमें बांधे (यह कमरका चिन्ह है), फिर सात लरका यज्ञोपवीत धारण करावे (यह वक्षःस्थलका चिन्ह है), तदनंतर गुरुकी साक्षीपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतसे वृद्धिको प्राप्त हुये स्थूल हिंसाका त्याग आदि अणुव्रतोंको धारण करावे। इनकी क्रियायें आदिपुराणमें इस प्रकार लिखी हैं—" शिखी सितांशुकः सांतर्वासा निर्वेषविक्रियः। व्रतचिन्हं दधत्सूत्रं तदोक्तो ब्रह्मचार्यसौ चरणोचितमन्यच्च नामधेयं तदास्य वै। वृत्तिश्च भिक्षयान्यत्र राजान्यादुद्धवैभवात् " अर्थात् जिसने मस्तकपर शिखा धारण की है, श्वेत वस्त्रकी कौपीन पहनी है, जिसके शरीरपर एक वस्त्र है, जो भेष और विकारसे रहित है, जिसने व्रतोंका चिन्हस्वरूप यज्ञोपवीत धारण किया है उससमय उसको ब्रह्मचारी कहते हैं, तथा उस समय उसके आचरणोंके अनुसार यथोचित नाम रक्खे जाते हैं। राजपुत्र अथवा किसी बड़े श्रेष्ठिपुत्रको छोड़कर शेष ऐसे ब्रह्मचारियोंको

भिक्षाभोजन करना चाहिये। यज्ञोपवीत होनेके बाद इनको श्रावकाचार आदि अपनी रुचिके अनुसार शास्त्र पढ़ने चाहिये जबतक वे इस अवस्थामें शास्त्राभ्यास करते हैं और जबतक विवाहकर गृहस्थधर्म स्वीकार नहीं करते तबतक उनकी ब्रह्मचारी संज्ञा है।

गृहस्थ—पहिले कहे हुये नित्य नैमित्तिक अनुष्ठान-करनेवालोंको गृहस्थ कहते हैं। गृहस्थोंके दो भेद हैं। एक जातिक्षत्रिय और दूसरे तीर्थक्षत्रिय। जातिक्षत्रियके चार भेद हैं क्षत्रिय, ब्राह्मण वैश्य और शूद्र। तीर्थक्षत्रियोंके स्वजीवित आदिके भेदसे अनेक भेद होते हैं।

वानप्रस्थ—जिन्होंने दिगंबर मुद्रा धारण नहीं की है जो केवल वस्त्रखंड़को (वस्त्रके टुकड़ेको) धारणकर निरतिशय उग्र तप करनेमें सदा उद्यत रहते हैं उनको वानप्रस्थ कहते हैं।

भिक्षु—जिन्होंने दिगम्बर मुद्रा धारण की है उनको भिक्षु कहते हैं। उनके अनेक भेद हैं जैसे—

> देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिह मुनिः स्यादृषिः प्रोदगतर्द्धि—
> रारूढश्रेणियुग्मोऽजनि यतिरनगारोऽपरः साधुवर्गः।
> राजा ब्रह्मा च देवः परम इति ऋषि विंक्रियाक्षीणशक्ति—
> प्राप्तो बुध्द्यौषधीशो वियदयनपटु विश्ववेदी क्रमेण॥

अर्थात्—यति मुनि ऋषि और अनगार ये चार मुख्य भेद हैं। सामान्य साधुओंको अनगार कहते हैं, जो उपशमश्रेणी अथवा

१ यह केवल सूचना मात्र है इसकी पूर्ण विधि त्रिवर्णाचार आदि ग्रंथोंसे जान लेना चाहिये।

क्षपकश्रेणीपर आरूढ हैं उनको यति कहते हैं, अवधिज्ञानी, मनः-पर्ययज्ञानी और केवलज्ञानियोंको मुनि कहते हैं। जिनको ऋद्धियां प्राप्त हुई हैं उन्हें ऋषि कहते हैं। ऋषियोंके चार भेद हैं—राजर्षि, ब्रह्मर्षि, देवर्षि और परमर्षि। जिनको विक्रिया ऋद्धि और अक्षीण ऋद्धि प्राप्त हुई है उनको राजर्षि कहते हैं, बुद्धि और औषध ऋद्धिको धारण करनेवाले ब्रह्मर्षि कहलाते हैं, जिन्हें आकाशगामिनी ऋद्धि प्राप्त हुई है उन्हें देवर्षि कहते हैं और सर्वज्ञदेवको परमर्षि कहते हैं। इन सबकी क्रियायें पहिले कही जा चुकी हैं तथा चारों वर्णोंकी क्रियायें भी कही जा चुकी हैं ॥२०॥

आगे—दो श्लोकोंमें आरंभत्यागप्रतिमाको कहते हैं—

निरूढसप्तनिष्ठोऽङ्गिघातांगत्वात्करोति न ।
न कारयति कृष्यादीनारंभविरतस्त्रिधा ॥ २१ ॥

अर्थ—जो पहिले कही हुई सात प्रतिमाओंको अच्छी तरह पालन करता है ऐसा आरंभको त्याग करनेवाला अर्थात् आरंभ-विरत आठवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक प्राणियोंकी हिंसा होनेके कारण ऐसे खेती व्यापार सेवा आदि छह कर्मोंको न तो मन वचन कायसे आप करता है और न किसी दूसरेसे कराता है। भावार्थ—खेती व्यापार आदि आरंभके त्याग करनेवालेको आरंभ-विरत वा आठवीं प्रतिमाधारी श्रावक कहते हैं। यह श्रावक केवल खेती व्यापार आदिका ही त्याग करता है, स्नपन (अभिषेक) दान पूजा आदिका नहीं। क्योंकि वह अभिषेक आदि कर्मोंको इसप्रकार देख और शोधकर सावधानतासे करता है कि जिससे

किसी भी जीवका विघात न हो सके। इसलिये इनसे हिंसा नहीं हो सकती। खेती व्यापार आदि कर्म कितनेही यत्नाचारपूर्वक किये जायं तथापि उनसे प्राणियोंकी हिंसा होती ही है। इसलिये ही वह खेती व्यापार आदि आरंभोंका त्याग करता है। कदाचित् पुत्र आदि कुटुंबी लोग खेती व्यापार आदि करते हों तो उसमें वह सर्वथा अनुमतिका त्याग नहीं कर सकता अर्थात् उसमें कभी कभी अनुमति देना रुक नहीं सकती, इसलिये वह मन वचन काय और कृत कारितसे ही उसका त्याग करता है अनुमोदनासे नहीं ॥ २१ ॥

आगे—इसीको फिर समर्थन करते हैं—

> यो मुमुक्षुराघाद्बिभ्यत्त्यक्तुं भक्तमपीच्छति।
> प्रवर्तयेत्कथमसौ प्राणिसंहरणीः क्रियाः ॥ २२ ॥

अर्थ—जो समस्त कर्मोंके नष्ट करनेकी इच्छा रखनेवाला आठवीं प्रतिमाका पालन करनेवाला श्रावक पापसे डरकर प्राणियोंकी हिंसा होनेके कारण ऐसे भोजनको भी छोड़नेकी इच्छा करता है वह जिनमें प्राणियोंकी हिंसा अवश्य होती है, छूट नहीं सकती ऐसे खेती व्यापार आदि हिंसारूप क्रियाओंको स्वयं कैसे कर सकता है और कैसे दूसरोंसे करा सकता है? अर्थात् ऐसी क्रियाओंको न तो वह स्वयं कभी कर सकता और न कभी दूसरोंसे करा सकता है ॥ २२ ॥

आगे—सात श्लोकोंमें परिग्रहविरत प्रतिमाको कहते हैं—

स ग्रंथविरतो यः प्राग्व्रतव्रातस्फुरद्धृतिः ।
नैते मे नाहमेतेषामित्युज्झति परिग्रहान् ॥ २३ ॥

अर्थ—पहिले कही हुई दर्शन आदि प्रतिमाओंमें होनेवाले संयम विशेषके समूहसे जिसका संतोष स्फुरायमान हो रहा है ऐसा जो श्रावक "ये वास्तु क्षेत्र आदि बाह्य परिग्रह मेरे नहीं है अर्थात् इनपर न तो मेरी सत्ता वा अधिकार है और न ये मेरे भोगने योग्य हैं तथा न मैं इनका स्वामी हूं और न मैं इनका भोगनेवाला हूं " ऐसा विचारकर वास्तु क्षेत्र आदि परिग्रहोंका त्याग कर देता है उसको परिग्रहविरत वा आठवीं प्रतिमाका पालन करनेवाला कहते हैं। पहिले जो " स्वाचाराप्रतिलोम्येन लोकाचारं प्रमाणयेत् " अर्थात् " जिसमें अपने ग्रहण किये हुये व्रतोंका घात न हो इसप्रकारसे स्वामीकी सेवा, खरीदना, बेचना, आदि क्रियाओंको प्रमाण मानना चाहिये । " यह कहा गया है इस वचनके अनुसार जिसमें अपने स्थानकी क्रियाओंमें विरोध न आवे इसप्रकार पहिली प्रतिमाओंके सब अनुष्ठान वा क्रियायें करनी चाहिये ॥२३॥

आगे—आगेके सब श्लोकोंमें इसकी सकलदत्तिका निरूपण करते हैं—

अथाहूय सुतं योग्यं गोत्रजं वा तथाविधं ।
ब्रूयादिदं प्रशान् साक्षाज्जातिज्येष्ठसधर्मणां ॥ २४ ॥

अर्थ—इस श्लोकमें कहे हुये अथ शब्दका अधिकार अर्थ है अर्थात् अब आगे सकलदत्तिका निरूपण करते हैं। नौवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला अत्यंत शांत ऐसा श्रावक ग्रहस्थधर्मके

चलाने योग्य ऐसे अपने पुत्रको अथवा योग्य पुत्रके न होनेपर योग्य पुत्रके समान अपने गोत्रमें उत्पन्न हुये भाईको अथवा भाईके पुत्र आदिको बुलाकर उससे ब्राह्मण आदि अपनी जातिमें मुख्य ऐसे सधर्मी भाइयोंके समक्ष नीचे लिखे हुये वाक्य कहे—

ताताद्ययावदस्माभिः पालितोऽयं गृहाश्रमः।
विरज्यैनं जिहासूनां त्वमद्यार्हसि नः पदं ॥२५॥

अर्थ—जिसका स्वयं पालन पोषण किया है ऐसे पुत्र आदिको प्रेमपूर्वक बुलाते समय तात कहकर बुलाते हैं। हे तात ! नौवीं प्रतिमाकी क्रियाओंको पालन करनेमें उद्यत हुये हमने आजतक इस गृहस्थाचारका निर्वाह किया, आज संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त होकर इस गृहस्थाश्रमके छोड़नेकी इच्छा करते हैं और तू आज इस हमारे त्रिवर्गके साधनीभूत गृहस्थाश्रमके पालन करनेके योग्य है ॥२५॥

पुत्रः पुपूषोः स्वात्मानं सुविधेरिव केशवः।
य उपस्कुरुते वप्तुरन्यः शत्रुः सुतच्छलात् ॥२६॥

अर्थ—हे पुत्र ! जिसप्रकार राजा सुविधिके पुत्र केशवने अपने पिताके व्रतोंमें सहायता की थी उसीप्रकार जो अपने चैतन्यस्वरूप आत्माके शुद्ध करनेकी इच्छा रखनेवाले पिताका उपस्कार करता है अर्थात् उसके घर आदिसे ममत्वके दूर करनेमें अतिशय सहायता देता है उसको पुत्र कहते हैं क्योंकि "यः उत्पन्नः पुनीते वंशं स पुत्रः" अर्थात् जो उत्पन्न होकर अपने वंशको पवित्र करे उसे पुत्र कहते हैं। यदि वह पुत्र ऊपर लिखे अनुसार न हो अर्थात्

पिताके त्यागमें सहायता न दे तो वह , पुत्रके बहानेसे शत्रुके समान हैं , क्योंकि ऐसा पुत्र अपने इष्टका विघात करनेवाला होता है ।

श्रीवृषभदेवके पूर्वभवमें सुविधि राजा थे, इनके केशव नामका पुत्र था जो कि सुविधिके पूर्वभवमें उसकी पत्नी श्रीमतीका जीव था । केशवके पुत्रत्व पालनमें महापुराणमें यों लिखा है– "नृपस्तु सुविधिः पुत्रस्नेहाद्गार्हस्थ्यमत्यजन् । उत्कृष्टोपासकस्थाने तपस्तेपे सुदुश्चरं " "अर्थात् राजा सुविधिने अपने पुत्र केशवके स्नेहसे गृहस्थाश्रमको न छोड़कर उत्कृष्ट श्रावक होकर ही दुर्द्धर तपश्चरण किया " इससे यह दिखलाया है कि केशवने गृहस्थाश्रमका भार लेकर पिताको उनके धर्मध्यान करने, तपश्चरण करने आदिमें सहायता दी थी । इसीतरह सब पुत्रोंको अपने पिताकी सहायता करनी चाहिये ॥२६॥

आगे—इसका उपसंहार करते हैं–

> तदिदं मे धनं धर्म्यं पोष्यमप्यात्मसात्कुरु ।
> सैषा सकलदत्तिर्हि परं पथ्या शिवार्थिनाम् ॥२७॥

अर्थ –इसलिये हे पुत्र ! मेरे इस गांव सुवर्ण आदि द्रव्यको, चैत्यालय, पात्रदान आदि धार्मिक पदार्थोंको और पालन पोषण करने योग्य ऐसे स्त्री माता पिता आदिको अपने आधीन रख । इसप्रकार अपने पुत्रसे कहना चाहिये । क्योंकि मोक्षकी इच्छा करनेवाले जीवोंको इसप्रकार शास्त्रोंके अनुसार कही हुई यह सकलदत्ति अथवा अन्वयदत्ति रत्नत्रयमें अत्यंत सहायता देनेवाली है ।

विदीर्णमोहशार्दूलपुनरुत्थानशंकिनां
त्यागक्रमोऽयं गृहिणां शक्त्याऽऽरंभो हि सिद्धिकृत् ॥२८॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनके द्वारा जिनका मोहरूपी व्याघ्र विदीर्ण वा नष्ट हो चुका है तथापि जिन्हें उसके फिर उठनेकी शंका है अर्थात् जो समझते हैं कि सम्यक्त्वके द्वारा विदीर्ण हुआ यह मोह रूपी व्याघ्र फिर भी उठकर घात करेगा, जग जायगा, ऐसे गृहस्थोंके लिये यह धीरे धीरे अंतरंग और बहिरंग परिग्रहके त्याग करनेका क्रम कहा गया है। क्योंकि अपनी सामर्थ्यके अनुसार किया हुआ इस लोक संबंधी अथवा परलोक संबंधी आरंभ अर्थात इष्ट सिद्ध करनेका उपाय इच्छानुसार पदार्थोंको सिद्धि करनेवाला होता है। भावार्थ—शक्तिके अनुसार किये हुये उपायसे ही इष्ट सिद्धि होती है ॥२८॥

एवं व्युत्सृज्य सर्वस्वं मोहाभिभवहानये।
किंचित्कालं गृहे तिष्ठेदौदास्यं भावयन्सुधीः ॥२९॥

अर्थ—इसप्रकार तत्त्वज्ञानी श्रावक ऊपर लिखे अनुसार चेतन अचेतनरूप समस्त परिग्रहको विधिपूर्वक छोड़कर आरंभ आदिमें जो पूछने अथवा न पूछनेपर भी पुत्रादिकोंको अनुमति देता है ऐसी मोहसे होनेवाली उपेक्षाकी शिथिलताको दूर करनेके लिये उदासीनताका वार वार चिंतवन करता हुआ थोड़े दिन तक घरमें ही निवास करे।

इस श्लोकमें जो "किंचित्कालं" अर्थात् "थोड़े दिनतक घरमें निवास करे" यह जो पद दिया है उसका यह अभिप्राय है

कि श्वेतांबरोंने जो प्रतिमाओंमें कालका नियम किया है वह ठीक नहीं है । उनके माने हुये प्रतिमाओंमें कालके नियमका खंड़न करनेके लिये ही यह पद दिया है । श्वेतांबरोंने कालका नियम कहां कितना माना है इसको हमने ज्ञानदीपिका टीकामें दिखलाया है । तथा "गृहे तिष्ठन्" अर्थात् "घरमें निवास करे" इस पदसे यह सूचित होता है कि यह नौवीं प्रतिमाधारी श्रावक घरमें रहकर अपना शरीर ढकनेके लिये जो वस्त्रमात्र धारण करता है उसमें भी उसका ममत्व नहीं होता । वह वस्त्र केवल इसलिये धारण करता है कि विना उनके वह घरमें रह नहीं सकता । सो ही आगममें कहा है "मोत्तूण वत्थमत्तं परिग्गहं जो विवज्जदे सेसं। तं तत्थ विमुच्छण्णं करेदि जाण सो सावओ णवमो" अर्थात् "जो वस्त्रमात्रको छोड़कर शेष समस्त परिग्रहका त्याग कर देता है और उस वस्त्रमें भी ममत्व नहीं रखता उसको नौवीं प्रतिमाधारी श्रावक कहते हैं ॥२९॥

आगे—सात श्लोकोंमें अनुमतिविरतिका निरूपण करते हैं—

नवनिष्ठापरः सोऽनुमतिव्युपरतः सदा ।
यो नानुमोदते ग्रंथमारंभं कर्म चैहिकं ॥३०॥

अर्थ—पहिले कही हुई दर्शन आदि नौ प्रतिमाओंकी क्रियायें करनेमें तत्पर ऐसा जो श्रावक धन धान्य आदि परिग्रहको, खेती व्यापार आदि आरंभोंको और विवाह आदि इस लोक संबंधी कर्मोंको मन वचन और कायसे कभी अनुमोदना नहीं करता उसको अनुमतिविरत दशवीं प्रतिमाका पालन करनेवाला कहते हैं ॥३०॥

आगे—इसकी विशेष विधि दिखलाते हैं—

चैत्यालयस्थः स्वाध्यायं कुर्यान्मध्याह्नवंदनात्।
ऊर्ध्वमामंत्रितः सोऽश्नीयाद्गृहे स्वस्य परस्य वा ॥३१॥

अर्थ—इस अनुमतिविरति श्रावकको जिनालयमें रहकर ही शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिये। तथा मध्याह्नका वंदना आदि कर्म कर लेनेके बाद किसीके बुलानेपर पुत्रादिके घर अथवा अन्य किसी धर्मात्माके घर (जो बुलाने आया हो उसीके घर) भोजन कर लेना चाहिये ॥३१॥

आगे—दो श्लोकोंमें इन अनुमतिविरत श्रावकको उद्दिष्ट त्यागके लिये चिंतवन करने योग्य विशेष भावना कहते हैं—

यथाप्राप्तमदन्देहसिध्द्यर्थं खलु भोजनं।
देहश्च धर्मसिध्द्यर्थं मुमुक्षुभिरपेक्ष्यते ॥३२॥
सा मे कथं स्यादुद्दिष्टं सावद्याविष्टमश्नतः।
कर्हि भैक्षामृतं भोक्ष्ये इति चेच्छेज्जितेंद्रियः॥३३॥

अर्थ—जिसने अपनी समस्त इंद्रियां वश करली हैं ऐसे इस श्रावकको संयमकी अविरोधतापूर्वक जिसकिसी प्राप्त हुये द्रव्यको भोजन करते हुये इसप्रकार आकांक्षा वा इच्छा करनी चाहिये कि "मोक्षकी इच्छा करनेवाले संयमी लोग शरीरकी स्थिति रखनेके लिये ही भोजनकी अपेक्षा रखते हैं और शरीरकी स्थिति रत्नत्रयरूप धर्मके सिद्ध करनेके लिये करते हैं। परंतु मैं जो यह सावद्य अर्थात् जघन्य क्रियासे बने हुये उद्दिष्ट आहारको अर्थात् अपने लिये तैयार किये हुये आहारको ग्रहण करता हूं उससे मेरे यह धर्मकी सिद्धि कैसे हो सकती है? अर्थात् कभी नहीं। इसलिये

वह ऐसा कौनसा समय आवेगा कि जब मैं अजर अमर पद वा मोक्षका कारण ऐसे भिक्षारूपी अमृतका भोजन करूंगा । भावार्थ— कब मैं उद्दिष्टत्याग प्रतिमाको धारण करूंगा ॥३२—३३॥

आगे—इसी श्रावकको घर छोडनेकी विधि कहते हैं—

पंचाचारक्रियोद्युक्तो निष्क्रमिष्यन्नसौ गृहात् ।
आपृच्छेत गुरून् बंधून् पुत्रादींश्च यथोचितं ॥ ३४ ॥

अर्थ—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप आचार और वीर्याचार ऐसे पांच प्रकारके आचार पालन करनेमें तत्पर और द्रव्यगृह तथा भावगृह दोनोंसे निकलनेकी इच्छा रखनेवाले श्रावकको अपने माता पिता आदि गुरुजनोंसे, बंधुवर्गसे, तथा पुत्रादिकोंसे घर छोड़नेके लिये यथायोग्य रीतिसे पूछना चाहिये ।

इसकी संक्षिप्त विधि इसप्रकार है—काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव,अर्थ, व्यंजन और तदुभय इन आठ अंगोंसे सुशोभित हे ज्ञानाचार ! यद्यपि मैं निश्चय रीतिसे जानता हूं कि तू शुद्ध आत्माका स्वरूप नहीं है तथापि मैं तुझे तबतक धारण करता हूं जबतक कि मुझे तेरे प्रसादसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हो । हे निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, और प्रभावना इन आठ अंगोंसे विभूषित दर्शनाचार ! यद्यपि मैं निश्चय रीतिसे जानता हूं कि तू शुद्ध आत्माका स्वरूप नहीं है तथापि मैं तुझे तबतक धारण करता हूं जबतक मुझे तेरे प्रसादसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हो । हे मोक्षमार्गकी प्रवृत्तिमें कारण ऐसे पांच महाव्रतोंसे सुशोभित, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और

कायगुप्ति इन तीनों गुप्तियों सहित तथा ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदान-निक्षेपण और प्रतिष्ठापन इन पांच समितियोंसे विभूषित इस प्रकार तेरह अंगोंसे सुशोभित चारित्राचार ! यद्यपि मैं निश्चयसे जानता हूं कि तू शुद्ध आत्माका स्वरूप नहीं है तथापि जबतक तेरे प्रसादसे मुझे शुद्ध आत्मा प्राप्त हो तबतक मैं तुझे धारण करता हूं। हे अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग, ध्यान इन बारह अंतरंग और बाह्य भेदोंसे विभूषित तप आचार ! यद्यपि मैं जानता हूं कि तू शुद्ध आत्माका स्वरूप नहीं है तथापि जबतक मुझे तेरे प्रसादसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हो तबतक मैं तुझे धारण करता हूं। हे पूर्ण अपूर्ण आचारकी प्रवृत्ति करनेवाले और अपनी शक्ति नहीं छिपानेवाले वीर्याचार ! यद्यपि मैं निश्चयसे जानता हूं कि तू शुद्ध आत्माका स्वरूप नहीं है तथापि जबतक मुझे तेरे प्रसादसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति हो तबतक मैं तुझे धारण करता हूं।

तथा कुटुंबियोंसे यथोचित संभाषण इसप्रकार करना चाहिये कि—हे इस मेरे शरीरके उत्पन्न करनेवाले पिताके आत्मा! तथा हे मेरेशरीरको उत्पन्न करनेवाली माताके आत्मा! आप यह अच्छी तरह जानते हैं कि यह मेरा आत्मा आपसे उत्पन्न नहीं हुआ है। इसलिये यह मेरा आत्मा आपसे आज्ञा ले रहा है, आप कृपा करके इसे छोड़ दीजिये अर्थात् दीक्षा लेनेकी आज्ञा दीजिये। क्योंकि यह आत्मा आज प्रगट हुये ज्ञानमय ज्योतिस्वरूप अपने अनादि कालके मावाप आत्माके ही समीप जाना चाहता है। हे मेरे शरी-

रके भाई बंधुओंमें रहनेवाले आत्मा ! आप यह अच्छीतरह जानते हैं कि मेरा यह आत्मा किसीतरह आपका नहीं है। इसलिये आज्ञा मांगनेपर इस मेरे आत्माको छोड़ दीजिये क्योंकि यह आत्मा आज प्रगट हुये ज्ञानमय ज्योतिस्वरूप अपने भाई आत्माके समीप ही जाना चाहता है। हे मेरे शरीरसे उत्पन्न हुये पुत्रके आत्मा ! तू यह अच्छीतरह जानता है कि तू मेरे आत्मासे उत्पन्न नहीं हुआ है। इसलिये आज्ञा मांगनेपर इस मेरे आत्माको छोड़ दो। क्योंकि यह आत्मा आज प्रगट हुये ज्ञानमय ज्योतिस्वरूप अपने पुत्र आत्माके समीप ही जाना चाहता है। हे मेरे शरीरसे रमण करनेवाली स्त्रीके आत्मा ! तू निश्चयसे जानता है कि मेरा आत्मा तुझे प्रसन्न नहीं कर सकता इसलिये आज्ञा मांगनेपर इस मेरे आत्माको छोड़ दो। क्योंकि यह आत्मा आज प्रगट हुई ज्ञानमय ज्योतिस्वरूप जो अपनी स्वानुभूतिरूप अनादिकालकी स्त्री है उसके समीप जाना चाहता है। इसप्रकार सब कुटंबी लोगोंसे आज्ञा मांगनी चाहिये, और सबसे आज्ञा लेकर घर छोड़ना चाहिये ॥३४॥

आगे—विनयाचारको पहिले सविस्तर कह चुके हैं। अब उसकी सहज स्मृति होनेके लिये फिर संक्षेपसे कहते हैं—

सुदृग्धीवृत्ततपसां मुमुक्षो र्निर्मलीकृतौ ।
यत्नो विनय आचारो वीर्याच्छुद्धेषु तेषु तु ॥३५॥

अर्थ—मोक्षकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षु पुरुष सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तपके दोष दूर करनेके लिये जो कुछ प्रयत्न करते हैं उसको विनय कहते हैं। तथा

निर्मल सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र और तपमें अपनी शक्तिको नहीं छिपाकर यत्न करना अर्थात् शक्तिके अनुसार उनको पालन करना आचार है। इससे ग्रंथकारने वीर्याचार सूचित किया है। इस श्लोकमें जो मुमुक्षु शब्द दिया है उससे यह सूचित होता है कि मोक्षकी इच्छा करनेवाले ही ऐसा प्रयत्न कर सकते हैं, भोगोपभोगकी इच्छा करनेवालोंसे ऐसा प्रयत्न नहीं हो सक्ता ॥२५॥

आगे—इस प्रतिमाके कथनका उपसंहार करते हैं—

इति चर्यां गृहत्यागपर्यंतां नैष्ठिकाग्रणीः।
निष्ठाप्य साधकत्वाय पौरस्त्यपदमाश्रयेत् ॥३६॥

अर्थ—दर्शन आदि नौ प्रतिमाओंको धारण करनेवाले नैष्ठिक श्रावकोंमें मुख्य ऐसे अनुमतिविरत श्रावकको ऊपर कहे अनुसार घरके त्यागकरनेपर्यंत संयमाचारको समाप्त करना चाहिये और फिर साधक होनेके लिये अर्थात् अपने आत्माको शुद्ध करनेके लिये उद्दिष्टत्याग नामके ग्यारहवें स्थानको अर्थात् ग्यारहवीं प्रतिमाको धारण करना चाहिये ॥३६॥

आगे—तेरह श्लोकोंमें उद्दिष्टत्याग प्रतिमाको कहते हैं—

तत्तद्व्रतास्त्रनिर्भिन्नश्वसन्मोहमहाभटः।
उद्दिष्टं पिंडमप्युज्झेदुत्कृष्टः श्रावकोऽन्तिमः ॥३७॥

अर्थ—जिसका मोहरूपी महायोद्धा (जो किसीसे न जीता जाय ऐसा वीर) पहिले कहे हुये समस्त प्रवृत्ति निवृत्तिरूप आचरणोंके पालन करनेरूप शस्त्रोंके प्रहारोंसे अत्यंत विदारित हुआ, कुछ कुछ जीता हुआ केवल श्वासोच्छ्वास

ले रहा है अर्थात् कुछ जीवित होकर अब भी जिनमुद्रा वा नग्न-मुद्रा धारण करनेको रोक रहा है ऐसे इस अंतिम प्रतिमा धारण करनेवाले उत्कृष्ट श्रावकको खास अपने लिये तैयार किये हुये भोजनको तथा अपि शब्दसे अपने लिये तैयार किये हुये शयन, आसन, उपकरण आदिको भी छोड़ देना चाहिये। **भावार्थ**—उद्दिष्ट भोजनादिके त्याग करनेको अंतिम **उद्दिष्टविरत प्रतिमा** कहते हैं। इस प्रतिमाको पालन करनेवाले श्रावकको मुनिके समान प्रतिग्रह आदि नवधाभक्तिपूर्वक आहार लेना चाहिये। यद्यपि पहिले अ. ३ श्लो. ३ में "उभौ भिक्षुकौ प्रकृष्टौ च" अर्थात् "दशवीं और ग्यारहवीं प्रतिमाके पालन करनेवाले श्रावकको भिक्षुक और उत्कृष्ट श्रावक कहते हैं" ऐसा कह चुके हैं तथापि इस श्लोकमें ग्यारहवीं प्रतिमावाले श्रावकके लिये जो उत्कृष्ट विशेषण दिया है उसका यह अभिप्राय है कि ग्यारहवीं प्रतिमावाले श्रावकको इत्थंभूत नयसे उत्कृष्ट कहते हैं और अनुमतिविरतको नैगमनयसे उत्कृष्ट कहते हैं ॥३७॥

आगे—ग्यारहवीं प्रतिमाके भेद और उनके लक्षण कहते हैं—

स द्वेधा प्रथमः श्मश्रुमूर्द्धजानपनाययेत् ।
सितकौपीनसंव्यानः कर्तर्या वा क्षुरेण वा ॥३८॥

अर्थ—इस उद्दिष्टविरत श्रावकके दो भेद होते हैं (प्रथम क्षुल्लक और दूसरा अहिलक) उनमेंसे पहिला क्षुल्लक श्रावक सफेद कौपीन (लंगोटी) और सफेद ही डुपट्टा धारण करता है। तथा डाढ़ी मूछ और शिरके बालोंको कैंची वा उस्तरासे किसी दूसरे मनुष्यसे

बनवाता है । डाढ़ी मूछ और शीरके बालोंका नाम लेनेसे कक्षा (कांख) के बाल बनवानेका निषेध है, अर्थात् वह कांखके बाल नहीं बनवाता । कैंची और उस्तरामेंसे कैंचीसे बनवाना प्रशंसनीय गिना जाता है क्योंकि उसमें शोभाकी कुछ इच्छा नहीं रहती ।

इसमें पहिला वा शब्द विकल्पार्थक है और दूसरा वा शब्द समुच्चयके लिये है अर्थात् सूचित करता है कि कैंची वा उस्तरासे अथवा यथासंभव दोनोंसे बनवा सकता है ॥ ३८ ॥

स्थानादिषु प्रतिलिखेत् मृदूपकरणेन सः ।
कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवासं चतुर्विधं ॥३९॥

अर्थ—इस प्रथम क्षुल्लक श्रावकको अपने बैठने, खड़े होने, शयन करने आदि काम करनेयोग्य स्थानोंको जंतुओंको बाधा न देनेवाले ऐसे कोमल वस्त्र आदि उपकरणोंसे झाड़ बुहारकर शोध लेना चाहिये । तथा प्रत्येक महीनेकी दो अष्टमी और दो चतुर्दशी ऐसे चारों पर्वोंमें चारों प्रकारके आहार त्याग करनेरूप उपवास अवश्य करना चाहिये ॥ ३९ ॥

स्वयं समुपविष्टोऽद्यात्पाणिपात्रेऽथ भाजने ।
स श्रावकगृहं गत्वा पात्रपाणिस्तदंगणे ॥ ४० ॥
स्थित्वा भिक्षां धर्मलाभं भणित्वा प्रार्थयेत वा ।
मौनेन दर्शयित्वांगं लाभालाभे समोऽचिरात् ॥४१॥
निर्गत्याऽन्यद्गृहं गच्छेद्भिक्षोद्युक्तस्तु केनचित् ।
भोजनायार्थितोऽद्यात्तद्भुक्त्वा यद्भिक्षितं मनाक् ॥४२॥
प्रार्थयेतान्यथा भिक्षां यावत्स्वोदरपूर्णी ।
लभेत प्रासु यत्रांभस्तत्र संशोध्य तां चरेत् ॥४३॥

अर्थ—इस ऊपर कहे हुये क्षुल्लक श्रावकको निश्चलरीतिसे एक जगह बैठकर अपने हाथमें अथवा थाली आदि वर्तनमें रखकर स्वयं भोजन करना चाहिये। इसके भिक्षा करनेकी विधि इसप्रकार है कि ऊपर लिखे श्रावकको पाणिपात्र होकर अर्थात् खाली हाथ गृहस्थ श्रावकके घर जाकर उसके आंगनमें खड़े होना चाहिये और वहींसे "धर्मलाभ" शब्दको उच्चारणकर भिक्षा मांगना चाहिये, अथवा मौन धारणकर दाताको केवल अपना शरीर दिखाकर ही भिक्षा मांगना चाहिये। यदि उस घरसे भिक्षा मिल गई हो तो उससे राग नहीं करना चाहिये और यदि न मिली हो तो उससे द्वेष नहीं करना चाहिये अर्थात् भिक्षाके मिलने और न मिलनेमें राग द्वेष छोड़कर समता धारण करना चाहिये, और उस याचना किये हुये घरसे शीघ्र ही निकलकर जिसमें याचना नहीं की हो ऐसे किसी दूसरे घरमें जाना चाहिये। यदि भिक्षा मांगनेके समय किसी श्रावकने अपने घर ही भोजन करनेकी प्रार्थना की हो अर्थात् अपने ही घर भोजन करनेके लिये रोक लिया हो तो जो कुछ थोड़ासा अन्न भिक्षामें मिला है उसको पहिले भोजन कर फिर उस श्रावकके घरका भोजन करना चाहिये। यदि भिक्षामें अपने पेट भरने योग्य अन्न मिल चुका हो तो फिर दूसरे श्रावकका अन्न नहीं लेना चाहिये। यदि किसी श्रावकने भोजन करनेकी प्रार्थना न की हो तो जितने अन्नसे पेट भरसके उतना अन्न भिक्षामें मांगलेना चाहिये। अधिक अन्न मांगना उचित नहीं है। यदि अधिक अन्न मांगलिया जायगा तो फिर उससे असंयम वा

संयमका भंग होना संभव है। इसके बाद जिस श्रावकके घर प्रासुक (गर्म किया हुआ वा अचित्त) जल मिले वहीं बैठकर उस भिक्षामें मिले हुये अन्नको अच्छीतरह शोधकर उसे गौके समान स्वादरहित खा लेना चाहिये ॥४०-४१-४२-४३॥

आकांक्षन्संयमं भिक्षापात्रप्रक्षालनादिषु ।
स्वयं यतेत चादर्पः परथाऽसंयमो महान् ॥४४॥

अर्थ—भोजन करलेनेके अनंतर प्राणियोंकी रक्षा करनेकी अभिलाषा करता हुआ अतिशय विद्वान् होने आदिके अहंकारको छोड़ कर जिसमें भोजन किया है उस वर्तनको मांजना वा धोना, आदि शब्दसे आसन उठाना, उच्छिष्ट (झूठन) उठाना आदि काम करनेके लिये स्वयं प्रयत्न करना चाहिये। अर्थात् वर्तन धोना आदि सब काम स्वयं करना चाहिये। यदि इन कामोंको वह स्वयं न कर शिष्य आदिकोंसे करावेगा तो उसको महा असंयमका दोष लगेगा, अर्थात् जो शिष्य वर्तन धोना आदि कामोंको करेंगे वे यत्नाचारपूर्वक नहीं करेंगे और इसलिये उनसे अनेक जीवोंका घात होगा जिसका पाप उस करानेवाले भिक्षुकको लगेगा। इसलिये ऊपर लिखे सब काम यत्नाचारपूर्वक स्वयं करना चाहिये ॥४४॥

ततो गत्वा गुरूपांतं प्रत्याख्यानं चतुर्विधं ।
गृह्णीयाद्विधिवत्सर्वं गुरोश्चालोचयेत्पुरः ॥४५॥

---

१ जहां वह उस बचे हुये अन्नको फेंकेगा वहां बहुतसे जीव उत्पन्न होंगे तथा मरेंगे। यदि वह अधिक भोजन करेगा तो प्रमाद आलस्य आदिसे संयम पालन नहीं हो सकेगा।

अर्थ—तदनंतर धर्माचार्यके समीप जाकर विधिपूर्वक चार प्रकारके आहार त्याग करनेका नियम स्वीकार करना चाहिये । तथा उन धर्माचार्यके सन्मुख अपने भिक्षाके लिये गमन करनेसे लेकर भोजनकर लौट आने पर्यंत सब वृत्तांत निवेदनकर उनकी आलोचना करनी चाहिये । तथा चकारसे गोचरीप्रतिक्रमण भी करना चाहिये ॥४५॥

इसप्रकार इस प्रथम उत्कृष्ट श्रावककी अनेक घर भिक्षा करनेसे होनेवाली भोजनकी विधिको कहकर अब उसी श्रावककी एक ही घर भिक्षा करनेकी विधि कहते हैं—

यस्त्वेकभिक्षानियमो गत्वाऽद्यादनुमुन्यसौ ।
भुक्त्यलाभे पुनः कुर्यादुपवासमवश्यकं ॥४६॥

अर्थ—जिसके एक ही घर भिक्षा लेनेका नियम है ऐसे प्रथमोत्कृष्ट श्रावकको भोजनके लिये जानेवाले मुनिके पीछे पीछे दाताके घर जाकर भोजन करना चाहिये । यदि उस घरमें आहार न मिल सके तो फिर उसे नियमसे उपवास ही करना चाहिये ।

इस श्लोकसे यह भी सिद्ध होता है कि प्रथमोत्कृष्ट श्रावकके अर्थात् क्षुल्लक श्रावकके भी दो भेद होते हैं, एक अनेक घरोंमें भिक्षा भोजन करनेवाला और दूसरा केवल एक घरमें ही भिक्षा भोजन करनेवाला ॥४६॥

आगे—केवल एक घर भिक्षा भोजन करनेवाले प्रथमोत्कृष्ट श्रावककी विशेष विधि कहते हैं—

वसेन्मुनिवने नित्यं शुश्रूषेत् गुरूंश्चरेत् ।
तपो द्विधाऽपि दशधा वैयावृत्यं विशेषतः ॥४७॥

अर्थ—केवल एक घर भिक्षा भोजन करनेवाले प्रथमोत्कृष्ट श्रावकको सदा मुनियोंके आश्रममें निवास करना चाहिये, धर्माचार्य आदि गुरुओंकी सदा सेवा, सुश्रूषा, वा उपासना करते रहना चाहिये, बाह्य अभ्यंतर दोनों प्रकारका तपश्चरण करना चाहिये और आचार्य, उपाध्याय, आदिके भेदसे दश प्रकारके वैयावृत्यको विशेष रीतिसे सदा करते रहना चाहिये अर्थात् दश प्रकारके मुनियोंकी आपत्तियोंको दूर करनेका सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये । यद्यपि अंतरंग तपश्चरणमें वैयावृत्य आ जाता है तथापि इसे जो विशेष रीतिसे करनेके लिये अलग कहा है इसका कारण यह है कि इस श्रावकको और तपोंकी अपेक्षा वैयावृत्य अत्यंत विशेषतासे करना चाहिये । यही सूचित करनेके लिये इसे अलग कहा है ॥४७॥

आगे—दूसरे उद्दिष्टविरत अर्थात् अहिलकका लक्षण कहते हैं—

तद्वद्द्वितीयः किंत्वार्यसंज्ञो लुंचत्यसौ कचान् ।
कौपीनमात्रयुग्धत्ते यतिवत्प्रतिलेखनं ॥ ४८ ॥

अर्थ—यह दूसरा उद्दिष्टविरत श्रावक भी अपनी समस्त क्रियायें प्रथमोद्दिष्टविरतके अर्थात् क्षुल्लकके समान ही करता है किंतु इतना विशेष है कि इसकी आर्य संज्ञा है, यह अपने दाढ़ी मूंछ और शिरके बालोंका लोंच करता है अर्थात् उन्हें अपने हाथोंसे उखाड़ डालता है तथा केवल दो कौपीन (लंगोटी) ही

रखता है, दो कौपीनोंको छोड़कर शेष डुपट्टा आदि सब वस्त्रोंका त्याग कर देता है और मुनिके समान संयमके उपकरण पीछीको भी यह धारण करता है ॥४८॥

स्वपाणिपात्र एवात्ति संशोध्यान्येन योजितं ।
इच्छाकारं समाचारं मिथः सर्वे तु कुर्वते ॥४९॥

अर्थ—तथा यह दूसरा उद्दिष्टविरत अहिल्लक श्रावक किसी दूसरे गृहस्थके द्वारा अपने हाथमें समर्पण किये हुये भोजनको शोधकर खाता है। यह थाली आदि किसी बर्तनमें भोजन नहीं करता। ये सब उसके असाधारण आचरण हैं। अब आगे सब ग्यारहों प्रतिमा धारण करनेवाले नैष्ठिक श्रावकोंमें होनेवाले साधारण आचरणोंको कहते हैं। ये ऊपर लिखे हुये दर्शनिक आदि ग्यारह प्रकारके सब श्रावक परस्पर "इच्छामि" ऐसा शब्द उच्चारणकर समाचार कहते हैं। भावार्थ—परस्पर मिलनेपर सब 'इच्छामि' करते हैं ॥ ४९ ॥

आगे—दश श्लोकोंमें बाकी बची हुई सब क्रियाओंको कहते हैं—

श्रावको वीरचर्याहः प्रतिमातापनादिषु ।
स्यान्नाधिकारी सिद्धांतरहस्याध्ययनेऽपि च ॥ ५० ॥

अर्थ—श्रावकोंको वीरचर्या अर्थात् स्वयं भ्रामरीवृत्तिसे भोजन करना, दिनप्रतिमा, और गर्मीके दिनोंमें सूर्यके सन्मुख पर्वतके शिखरपर योग धारण करना, वर्षा ऋतुमें वृक्षके नीचे, शीतकालकी रात्रियोंमें नदियोंके किनारे अथवा चौहटेमें योग धारण करना आदि

आतापनादि योग धारण करनेका अधिकार नहीं है। तथा इसी-प्रकार सिद्धांत अर्थात् परमागमके सूत्रों और प्रायश्चित्तशास्त्रोंके अध्ययन करनेका भी श्रावकोंको अधिकार नहीं है ॥ ५० ॥

दानशीलोपवासार्चाभेदादपि चतुर्विधः ।
स्वधर्मः श्रावकैः कृत्यो भवोच्छित्त्यै यथायथं ॥ ५१ ॥

अर्थ—देशसंयतश्रावकको संसारके नाश करनेके लिये अपनी अपनी पालन करनेवाली प्रतिमाओंके आचरणोंसे अविरुद्ध दान देना, शील पालन करना, उपवास करना और जिनेंद्रदेव आदिकी पूजा करना इस तरह चार प्रकारका अपना धर्म वा आचार पालन करना चाहिये। अपि शब्दसे यह सूचित होता है कि केवल दर्शन व्रत आदिके भेदसे केवल ग्यारह प्रतिमाओंका ही पालन नहीं करना चाहिये किंतु ऊपर लिखा हुआ अपना चार प्रकारका धर्म भी पालन करना चाहिये ॥ ५१ ॥

आगे—व्रतोंकी रक्षा करनेके लिये प्रयत्न करनेको आग्रह-पूर्वक कहते हैं—

प्राणान्तेऽपि न भंक्तव्यं गुरुसाक्षि श्रितं व्रतं ।
प्राणांतस्तत्क्षणे दुःखं व्रतभंगो भवे भवे ॥५२॥

अर्थ—यदि व्रतके भंग न करनेसे प्राणोंके नाश होनेकी संभावना भी हो तथापि गुरु अर्थात् परमेष्ठी, दीक्षागुरु, मुख्य मुख्य साधर्मी लोग और उस स्थानमें रहनेवाले देवता आदिकी साक्षी-पूर्वक ग्रहण किये हुये व्रतोंका भंग नहीं करना चाहिये। जब प्राणोंके नाश होनेकी संभावना होते हुये भी व्रत भंग नहीं करना

चाहिये तब फिर अन्य आपत्तियोंके आनेपर तो बात ही क्या है अर्थात् कभी भंग करना नहीं चाहिये । इसका भी कारण यह है कि प्राणोंके नाश होनेसे केवल उसी क्षणमें दुःख होता है, फिर नहीं, परंतु व्रत भंग कर देनेसे जन्म जन्ममें दुःख भोगने पड़ते हैं । क्योंकि यह सिद्धांत है कि ग्रहण किये हुये व्रतोंको बुद्धिपूर्वक अर्थात् जानबूझकर भंग कर देनेसे केवल व्रतोंका ही भंग नहीं होता किंतु सम्यक्त्वका भी भंग होता है और सम्यक्त्वका भंग होनेसे अनंत संसारका बंध होता है । इसप्रकार व्रत भंग कर देनेसे संसारमें अनंत कालतक परिभ्रमण करना पड़ता है । इसलिये ग्रहण किये हुये व्रत कभी भंग नहीं करना चाहिये ॥५२॥

शीलवान्महतां मान्यो जगतामेकमंडनं ।
स सिद्धः सर्वशीलेषु यः संतोषमधिष्ठितः ॥५३॥

अर्थ—शीलवान अर्थात् पवित्र चारित्रको पालन करनेवाले श्रावक अथवा मुनिका इंद्र आदि महापुरुष भी आदरसत्कार करते हैं तथा वह इस लोककी शोभा बढ़ानेमें उत्कृष्ट अलंकारके समान है अर्थात् जैसे अलंकारसे शोभा बढ़ती है उसीप्रकार शीलवान पुरुषोंसे ही इस लोककी शोभा बढ़ रही है । जिसने विषयोंसे तृष्णा हटाकर संतोष धारण किया है वही सब शीलोंमें अर्थात् सदाचारोंमें सिद्ध गिना जाता है ॥५३॥

---

१ अत्यंत एकांतमें स्वयं ग्रहण किये हुये व्रतोंमें भी उस जगहके रहनेवाले देवता साक्षी रहते हैं क्योंकि वे सब कुछ देख सकते हैं ।

तत्र न्यंचति नो विवेकतपनो नांचत्यविद्यातमी
नाप्नोति स्खलितं कृपामृतसरिन्नोदेति दैन्यज्वरः ।
विश्लिष्यंति न संपदो न दृशमप्याप्नुवंत्यापदः
सेव्यं साधुमनस्विनां भजति यः मंत्रोपमं हो(सं)तुषं ॥५४॥

अर्थ—सिद्धिको सिद्ध करनेवाले ऐसे साधु और अभिमानी पुरुषोंको सेवन करने योग्य ऐसे पापके नाश करनेवाले संतोषको जो धारण करता है उसका योग्य अयोग्यका विचार करनेवाला विवेकरूपी सूर्य कभी अस्त नहीं होता, सदा ऊपरको ही चढ़ता रहता है, और न उसकी अज्ञानरूपी रात्रिका कभी प्रचार होता है। तथा उसकी अनुकंपा वा दयारूपी अमृतकी नदीका प्रवाह कभी नहीं रुकता और न कभी शरीर तथा मनको संताप करनेवाला दीनतारूपी ज्वरका प्रादुर्भाव होता है। संपदा ऐसे पुरुषसे कभी विरक्त नहीं होती और आपत्ति ऐसे संतोषी पुरुषकी ओर कभी दृष्टिका कटाक्ष भी नहीं कर सकती, स्पर्श और आलिंगन करनेकी तो बात ही क्या है ? इसप्रकार सबसे उत्तम यह संतोष गुण श्रावकोंको अवश्य धारण करना चाहिये ॥५४॥

स्वाध्यायमुत्तमं कुर्यादनुप्रेक्षाश्च भावयेत् ।
यस्तु मंदायते तत्र स्वकृत्ये स प्रमाद्यति ॥५५॥

अर्थ—प्रत्येक श्रावकको अपनी उत्कृष्ट शक्तिपर्यंत अध्यात्म आदि विषयोंका उत्तम रीतिसे स्वाध्याय करना चाहिये तथा अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओंका सदा चिंतवन करते रहना चाहिये। चकारसे दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाओंका भी

चिंतवन करते रहना चाहिये। जो श्रावक इन स्वाध्यायादिके करनेमें आलस्य करता है वह अपने आत्मकल्याणमें प्रमाद करता है अर्थात् उसे आत्मकल्याण करनेका उत्साह नहीं है ऐसा समझना चाहिये ॥५५॥

धर्मान्नान्यः सुहृत्पापादन्यः शत्रुः शरीरिणां ।
इति नित्यं स्मरन्न स्यान्नरः संक्लेशगोचरः ॥५६॥

अर्थ—संसारी जीवोंको धर्मको छोड़कर अन्य कोई उपकार करनेवाला मित्र नहीं है और पापको छोड़कर अन्य कोई अपकार करनेवाला शत्रु नहीं है, अर्थात् जो कुछ भला होता है वह सब धर्मके प्रभावसे होता है और बुरा पापके प्रभावसे होता है। इसप्रकार सदा चिंतवन करता हुआ मनुष्य राग, द्वेष, मोह आदिके वशीभूत नहीं होता, अर्थात् रागद्वेषके निमित्तसे उसके संक्लेश परिणाम नहीं होते, वह सदा रागद्वेषको जीतता रहता है। भावार्थ—कभी किसीसे राग द्वेष नहीं करता ॥५६॥

सल्लेखनां करिष्येऽहं विधिना मारणांतिकीं ।
अवश्यमित्यदः शीलं सन्निदध्यात्सदा हृदि ॥५७॥

अर्थ—मैं मरणसे अंत होनेके समय अर्थात् इस भवमें मरनेके समय होनेवाली सल्लेखनाको अर्थात् बाह्य और आभ्यंतर तपके द्वारा शरीर और कषायको अच्छीतरह कृश करने वा घटानेरूप आचरणोंको शास्त्रोंमें कही हुई विधिके अनुसार अवश्य ही धारण करूंगा। इसप्रकार श्रावकको यह सल्लेखनारूप शील सदा हृदयमें

धारण करना चाहिये, अर्थात् सल्लेखना धारण करनेकेलिये चित्तमें सदा विचार करते रहना चाहिये ॥५७॥

सहगामि कृतं तेन धर्मसर्वस्वमात्मनः ।
समाधिमरणं येन भवविध्वंसि साधितं ॥५८॥

अर्थ—जिसने संसारको समूल नाश करनेवाले रत्नत्रयकी एकाग्रतापूर्वक प्राण त्याग करनेरूप समाधिमरणको धारण किया उसने व्यवहार और निश्चय रत्नत्रयको दूसरे भवमें साथ ले जानेके लिये साथ साथ चलनेवाला अपना साथी बनाया ॥५८॥

तत्प्रागुक्तं मुनीन्द्राणां वृत्तं तदपि सेव्यतां ।
सम्यग्निरूप्य पदवीं शक्तिं च स्वामुपासकैः ॥५९॥

अर्थ—श्रावकोंको अपनी पदवी अर्थात् संयम पालन करनेका प्रतिमा आदि स्थान और अपनी शक्तिको अच्छीतरह विचारकर पहिले यत्याचारके चौथे अध्यायसे नौवें अध्यायपर्यंत कहे हुये महामुनियोंके समिति गुप्तिरूप चारित्रका भी सेवन करना चाहिये। केवल सेवन ही नहीं किंतु उन क्रियाओंका अनुष्ठान भी करना चाहिये अर्थात् उन क्रियाओंको करना चाहिये ॥५९॥

आगे—प्रकृत विषयका उपसंहार करते हुये देशसंयमी श्रावकको औत्सर्गिक हिंसादिके त्याग करनेके लिये कहते हैं—

---

१ मरणांतेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखनां करिष्यामि ।
इति भावनापरिणतो नागतमपि पालयेदिदं शीलं ॥१॥

अर्थ—मैं मरनेके समय विधिपूर्वक सल्लेखनाको अवश्य धारण करूंगा। इसप्रकार चिंतवन करता हुआ अभी प्राप्त न हुये ऐसे भी इस शीलको पालन करै ।

इत्यापवादिकीं चित्रां स्वभ्यस्यन् विरतिं सुधीः ।
कालादिलब्धौ क्रमतां नवधौत्सर्गिकीं प्रति ॥६०॥

अर्थ—तत्त्वज्ञानी श्रावकको ऊपरके श्रावकाचारमें लिखे अनुसार मुनियोंके लिये अपवादका कारण ऐसी श्रावकोंके लिये कही हुई अपवादरूप हिंसा आदिकी अनेक प्रकार निवृत्तिका अभ्यास करते हुये काल, देश, बल, वीर्य और सहाय आदि सब साधनोंकी प्राप्ति होनेपर मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना इनके भेदसे नौ प्रकारकी उत्कृष्ट समस्त परिग्रह त्यागरूप औत्सर्गिकी निवृत्तिके लिये उत्साह करते रहना चाहिये । भावार्थ—हिंसादि समस्त परिग्रहके सर्वथा त्याग करनेके लिये सदा उत्साह करते रहना चाहिये ॥६०॥

आगे—साधक श्रावकके व्याख्यान करनेकी इच्छासे उसके अधिकारीको कहते हैं—

इत्येकादशधाम्नातो नैष्ठिकः श्रावकोऽधुना ।
सूत्रानुसारतोऽन्त्यस्य साधकत्वं प्रचक्ष्यते ॥६१॥

अर्थ—ग्रंथकार कहते हैं कि हमने इसप्रकार आचार्योंके परंपरा उपदेशके अनुसार नैष्ठिक श्रावकके ग्यारह भेद निरूपण किये । अब आगे परमागम सूत्रोंके अनुसार अंतके उद्दिष्टविरत श्रावकको तीसरा साधकका पद प्राप्त होनेके लिये उत्तम रीतिसे निरूपण करते हैं । भावार्थ—आगेके अध्यायमें साधकश्रावकका निरूपण करते हैं ॥६१॥

इसप्रकार पंडितप्रवर आशाधरविरचित स्वोपज्ञ (निजविरचित) सागारधर्मामृतके प्रगट करनेवाली भव्यकुमुदचंद्रिका टीकाके अनुसार नवीन हिंदी भाषानुवादमें धर्मामृतका सोलहवां और सागारधर्मामृतका सातवां अध्याय समाप्त हुआ ।

आठवां अध्याय ।

आगे—सल्लेखनाकी विधि कहनेकी इच्छासे पहिले उसके करनेवाले साधकको कहते हैं—

देहाहारेहितत्यागात् ध्यानशुद्धयात्मशोधनं ।
यो जीवितांते संप्रीतः साधयत्येष साधकः ॥१॥

अर्थ—जो ध्यानसे उत्पन्न हुये हर्षसे अंगअंगमें हर्षित है ऐसा श्रावक शरीरसे ममत्व छोड देने, चारों प्रकारके आहारका त्याग करने और मन वचन कायके व्यापारके परित्याग करनेसे उत्पन्न हुये आर्त रौद्ररहित एकाग्रचिंतानिरोधरूप ध्यानकी शुद्धता वा निर्विकल्प समाधिसे प्राणोंके नष्ट होते समय अपने आत्माके अंतःकरणको शुद्ध करता है अर्थात् मोह राग द्वेषको छोड़कर रत्नत्रय धारण करता है उसको साधक कहते हैं ॥१॥

आगे—किस पुरुषको श्रावक होकर मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होना चाहिये और किसको मुनि होकर मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होना चाहिये इसका उत्तर कहते हैं—

सामग्रीविधुरस्यैव श्रावकस्यायमिष्यते ।
विधिः सत्यां तु सामग्र्यां श्रेयसी जिनरूपता ॥२॥

अर्थ—जिसको जिनमुद्रा वा नग्नमुद्रा धारण करनेकी योग्य स्थान आदिकी सामग्री नहीं है ऐसे श्रावकके लिये इस श्रावकाचारके पहिलेके अध्यायोंमें तथा इस अध्यायमें कही हुई सब क्रियायें करनी चाहिये, ऐसी पूर्वाचार्योंकी संमति है । तथा यदि योग्य

स्थानादिकी सामग्री मिल जाय तो जिनमुद्रा धारणकर मुनि होना ही प्रशंसनीय और कल्याणकारी है । भावार्थ—जिनको मुनि होनेकी सामग्री न मिल सके उनको श्रावक होकर ही मोक्षमार्गमें प्रवृत्त होना चाहिये, और जिनको मुनि होनेकी पूर्ण सामग्री प्राप्त है उनको मुनि होना ही श्रेष्ठ है ॥२॥

आगे—जिनमुद्रा धारण करनेका कारण बतलाते हैं—

किंचित्कारणमासाद्य विरक्ताः कामभोगतः ।
त्यक्त्वा सर्वोपधिं धीराः श्रयंति जिनरूपतां ॥३॥

अर्थ—जो पुरुष तत्त्वज्ञान, इष्टवियोग, शत्रुसे पराजय आदि कारणोंमेंसे किसी कारणको पाकर स्पर्शन और रसना इंद्रियोंके विषयोंके अनुभव करनेरूप कामसे तथा घ्राण चक्षु और श्रोत्र इंद्रियोंके अनुभव करनेरूप भोगोंसे विरक्त हो चुके हैं और जो परिषह तथा उपसर्गोंके सहन करनेके लिये सदा तैयार रहते हैं ऐसे धीर पुरुष बाह्य और आभ्यंतर परिग्रहोंको छोड़कर जिनमुद्रा धारण करते हैं ॥३॥

आगे—जिनमुद्रा धारण करनेकी महिमा दिखलाते हैं—

अनादिमिथ्यादृगपि श्रित्वार्हद्रूपतां पुमान् ।
साम्यं प्रपन्नः स्वं ध्यायन् मुच्यतेऽतर्मुहूर्ततः ॥४॥

अर्थ—जो पुरुष अनादि मिथ्यादृष्टि है अपि शब्दसे केवल सादि मिथ्यादृष्टि वा अविरत सम्यग्दृष्टि ही नहीं किंतु अनादि मिथ्यादृष्टि द्रव्य पुल्लिंगको धारण करनेवाला पुरुष निर्ग्रंथ लिंग धारणकर समता वा मध्यस्थ परिणामोंको धारण करता हुआ केवल

अपने आत्माका ध्यान करता है वह पुरुष केवल अंतर्मुहूर्तमें ही द्रव्यकर्म और भावकर्म दोनोंसे छूटकर अपने आप मुक्त हो जाता है। लिखा भी है "आराध्य चरणमनुपममनादिमिथ्यादृशोऽपि यत्क्षणतः। दृष्टा विमुक्तिभाजस्ततोऽपि चारित्रमत्रेष्टं"। अर्थात् "अनादिमिथ्यादृष्टि पुरुष भी उपमारहित इस चारित्रको आराधनकर क्षणभरमें ही मुक्त होते हुये देखे जाते हैं इसलिये ही लोगोंको चारित्र धारण करना चाहिये ॥४॥

आगे—किसी कालपर्यंत टिकनेवाले शरीरको नाश करनेका तथा नाश होते हुये शरीरके लिये शोक करनेका निषेध करते हैं—

न धर्मसाधनमिति स्थास्नु नाश्यं वपु र्बुधैः।
न च केनापि नो रक्ष्यमिति शोच्यं विनश्वरं ॥५॥

अर्थ—विद्वानोंको रत्नत्रयके अनुष्ठान करनेमें कारण होते हुये कुछकालतक टिकनेवाले शरीरको रत्नत्रयकी सिद्धिका उपाय समझकर नाश नहीं करना चाहिये, और नष्ट होते हुये शरीरकी रक्षा योगींद्र, देवेंद्र, और दानवेंद्र आदि कोई भी नहीं कर सकते, यह अवश्य ही नष्ट होनेवाला है इत्यादि समझकर नष्ट होते हुये शरीरका शोक भी नहीं करना चाहिये। लिखा भी है "गहनं न शरीरस्य हि विसर्जनं किंतु गहनमिह वृत्तं। तन्न स्थास्नु विनाश्यं न नश्वरं शोच्यमिदमाहुः।" अर्थात् "इस संसारमें शरीरका छूटना

१ इस श्लोकमें पुमान् शब्द देकर ग्रंथकारने दिखलाया है कि द्रव्यस्त्री जिनमुद्रा धारण नहीं कर सकती और न वह मुक्त हो सकती है।

कुछ कठिन नहीं है किंतु चारित्रका धारण करना कठिन है। इसलिये टिकनेवाले शरीरको नष्ट नहीं करना चाहिये और नष्ट होते हुये शरीरका शोक नहीं करना चाहिये ॥५॥

आगे—शरीरका पोषण उपचार और त्याग तीनों ही करना उचित है ऐसा उपदेश देते हैं—

कायः स्वस्थोऽनुवर्त्यः स्यात्प्रतीकार्यश्च रोगितः ।
उपकारं विपर्यस्यंस्त्याज्यः सद्भिः खलो यथा ॥६॥

अर्थ—सज्जन पुरुषोंको जबतक यह शरीर स्वस्थ हो इसमें किसी तरहका विकार न हो तबतक पथ्य आहार और विहार आदिकसे इसको स्वस्थ ही रखना चाहिये, तथा यदि इसमें किसी प्रकारका रोग हो जाय तो योग्य औषधि आदि देकर रोगका प्रतिकार वा इलाज करना चाहिये, और यदि यह स्वास्थ्य और आरोग्यके लिये किये हुये उपकारोंका विपरीत फल देने लगे अर्थात् अधर्म करने लगे वा व्याधि हो जाय अथवा व्याधि बढ़ने लगे तो दुष्ट पुरुषके समान इसका त्याग कर देना चाहिये ॥६॥

आगे—शरीरकी रक्षा करनेके लिये धर्मके घात करनेका अत्यंत निषेध करते हैं—

नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः ।
देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यंतदुर्लभः ॥७॥

अर्थ—जिसका नाश होना निश्चित है ऐसे शरीरके लिये इच्छानुसार पदार्थोंको देनेवाले धर्मका विघात नहीं करना चाहिये। यदि शरीर नष्ट भी हो जायगा तो भी वह फिर अवश्य ही प्राप्त

होगा, परंतु समाधिमरणरूप धर्म प्राप्त होना अत्यंत दुर्लभ है, सैकडों प्रयत्न करनेपर भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये केवल शरीरके लिये प्राप्त हुये समाधिमरणरूप धर्मका घात कभी नहीं करना चाहिये ॥७॥

आगे—विधिपूर्वक प्राण त्याग करनेमें आत्मघात होनेकी शंकाका निराकरण करते हैं—

नचात्मघातोऽस्ति वृषक्षतौ वपुरुपेक्षितुः ।
कषायावेशतः प्राणान् विषाद्यैर्हिंसतः स हि ॥८॥

अर्थ—जो साधु पुरुष ग्रहण किये हुये व्रतोंके विनाश होनेके कारण उपस्थित होनेपर भोजन त्याग करने आदिकी विधिसे शरीरका त्याग करता है उसके आत्मघातका दोष नहीं लग सकता। क्योंकि जो पुरुष क्रोधादि कषायोंके आवेशसे विष, शस्त्र, श्वासनिरोध, जलप्रवेश, अग्निप्रवेश, और लंघन आदि कारणोंसे प्राणोंका वियोग वा नाश करता है उसको आत्मघातका दोष लगता है। भावार्थ—समाधिमरण करनेवाले न तो कषायोंका आवेश है और न वह उसतरह प्राणघात करता है, वह तो केवल नष्ट होते शरीरको विधिपूर्वक छोड़कर धर्मकी रक्षा करता है। इसलिये उसके आत्मघातका दोष नहीं लगता ॥८॥

---

१ यह कथन केवल शरीरकी अपेक्षासे वा संसारी जीवोंकी अपेक्षासे कहा गया है।

२ मरणेऽवश्यं भाविनि कषायसल्लेखनातनुकरणमात्रे ।
रागादिमंतरेण व्याप्रियमाणस्य नात्मघातोऽस्ति ॥

इसप्रकार संयमके विनाश होनेके कारण उपस्थित होनेपर शरीरका त्याग करना चाहिये ऐसा समर्थन कर चुके ।

अब आगे—काल अथवा उपसर्ग आदिसे अपनी मृत्युका निश्चय हो जानेपर सन्यासपूर्वक अनशन आदि करनेसे ही पहिले ग्रहण किये हुये दार्शनिक आदि व्रतोंकी सफलता होती है ऐसा कहते हैं—

कालेन वोपसर्गेण निश्चित्यायुः क्षयोन्मुखं ।
कृत्वा यथाविधि प्रायं तास्ताः सफलयेत्क्रियाः ॥९॥

अर्थ—स्थितिबंधके क्षय होनेके कारण ऐसे कालसे अथवा कोई उपसर्ग वा असाध्य रोग वा शत्रुकी भारी चोट आदिसे अपनी आयुके क्षय होनेका निर्णयकर अर्थात् " मैं अब अवश्य मरूंगा " ऐसा निश्चयकर विधिपूर्वक सन्यासमरण धारणकर उपवास आदि करके दर्शनप्रतिमा आदिमें होनेवाली क्रियाओंको तथा नित्य नैमित्तिक क्रियाओंको सफल करना चाहिये । भावार्थ—मरण होना अति समीप आया जानकर संन्यासमरण धारण करना चाहिये, उसीसे पहिले की हुई समस्त क्रियायें सफल होती हैं ॥९॥

यो हि कषायाविष्टः कुंभकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः ।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः ॥

अर्थ—जो मृत्यु अवश्य होनेवाली है उसमें राग द्वेषादिके विना जो पुरुष कषाय और शरीरको कृश करता है उसके आत्मघातका पाप नहीं लग सकता, क्योंकि जो कषायके आवेशसे श्वासको रोकना, जल, अग्नि, विष, शस्त्र आदिसे अपने प्राण नष्ट करता है उसके आत्मघातका दोष लगा करता है ।

आगे—'अपना मरण होगा ही' ऐसा निश्चय हो जानेपर यदि आत्माकी आराधनामें मग्न होकर शरीरका त्याग किया जायगा तो समझो कि मोक्ष हाथमें आ गई ऐसा उपदेश देते हैं—

देहादिवैकृतैः सम्यग्निमित्तैश्च सुनिश्चिते ।
मृत्यावाराधनामग्नमतेर्दूरे न तत्पदं ॥१०॥

अर्थ—जिनके होनेसे शरीर ठहर नहीं सकता ऐसे शरीरमें होनेवाले अनेक विकारोंसे तथा कर्मोंके शुभाशुभोंको अच्छी तरह निरूपण करनेवाली कर्णपिशाची आदि विद्या और ज्योतिषशास्त्रमें कहे हुये शकुनशास्त्र आदिसे अपने मरणके अवश्य होनेका निश्चय हो जानेपर जो पुरुष निश्चय आराधनाओंके चिंतवन करनेमें मग्न होता है उसको फिर मोक्षपद दूर नहीं रहता अर्थात् उसे थोड़े ही भवोंमें मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है ॥१०॥

आगे—उपसर्गादिकसे अकस्मात् मृत्यु होनेपर संन्यासकी विधि कहते हैं—

भृशापवर्तकवशात्कदलीघातवत्सकृत् ।
विरमत्यायुषि प्रायमविचारं समाचरेत् ॥११॥

अर्थ—जिसप्रकार तीव्र शस्त्रादिकसे एक ही वारमें केलेके थंभेका घात हो जाता है उसी प्रकार गाढ़ अपमृत्युके कारणोंसे एक साथ ही आयुका विनाश हो जाय तो उस समय मोक्षकी इच्छा रखनेवाले श्रावकको विचाररहित संन्यास धारण करना चाहिये अर्थात् तीर्थस्थान वा जिनालयमें गमन करना तथा सन्यासकी और सब विधि करना आदि सबको छोड़कर केवल चार

प्रकारके आहारका त्याग कर सार्वकालिक संन्यास धारण करना चाहिये। भावार्थ—उस समय समस्त आहारादिका त्याग कर केवल अपने शुद्ध आत्माके ध्यानमें लीन हो जाना चाहिये ॥ ११ ॥

आगे—आयुकर्मके पूर्ण विपाक होनेसे शरीरको स्वयं नाश होनेके सन्मुख देखकर सल्लेखना धारण करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं—

क्रमेण पक्त्वा फलवत्स्वयमेव पतिष्यति ।
देहः प्रीत्या महासत्त्वः कुर्यात्सल्लेखनाविधिं ॥ १२ ॥

अर्थ—जैसे आम आदि फल क्रमसे पककर वृक्षसे अपने आप पड़ जाते हैं उसीप्रकार यदि समयानुसार आयुकर्मके पूर्ण होनेसे छूट जाने वा पड़जानेकी योग्यता पाकर यह शरीर विना किसी अन्य कारणके अपने आप पड़ने लगे तो इस महा धीरवीर श्रावकको प्रीतिपूर्वक सल्लेखनाविधि करनी चाहिये। किसीने कहा भी है "प्रतिदिवसं विजहद्बलमुज्झद्भुक्तिं त्यजत्प्रतीकारं। वपुरेव नृणां निगदति चरमचरित्रोदयं समयं।" अर्थात् "जिस शरीरका बल प्रतिदिन घटता जाता है जो प्रतिदिन आहार छोड़ता जाता है और प्रतिदिन प्रतीकारोंका (उपायोंका) त्याग करता जाता है वह शरीर ही मनुष्योंको अंतमें होनेवाले चारित्रके धारण करनेके समयको कहता है। भावार्थ—ऐसा शरीर संन्यास धारण करनेके लिये स्वयं कह देता है अर्थात् ऐसे शरीरको देखकर संन्यास धारण करना ही चाहिये ॥ १२ ॥

आगे—शरीरसे ममत्व छोड़नेकी भावना कहते हैं—

जन्ममृत्युजरातंकाः कायस्यैव न जातु मे ।
न च कोऽपि भवत्येष ममेत्यंगेऽस्तु निर्ममः ॥१३॥

अर्थ—जन्म होना, मरण होना, बुढ़ापा होना, तथा ज्वर आदि रोग होना ये चारों पुद्गलके विकार हैं इसलिये ये पुद्गलरूप शरीरके ही हैं, शुद्ध चैतन्य स्वरूप इस मेरे आत्माके ऐसे विकार कभी नहीं हो सकते और न यह शरीर मेरे इस शुद्ध चिदानंदस्वरूप आत्माका कुछ उपकारक हो सकता है और न अपकारक ही हो सकता है, अर्थात् इस शरीरसे मेरे आत्माका कुछ भला बुरा नहीं होता न इसके रहनेसे कुछ भला होता है और न इसके नष्ट होनेसे कुछ बुरा होता है" इसप्रकार चिंतवन करते हुये समाधिमरण धारण करनेवाले श्रावकको अपने शरीरमें "यह मेरा शरीर है" ऐसा संकल्प वा ममत्व छोड़ देना चाहिये ॥१३॥

आगे—आहार त्याग करनेका समय कहते हैं—

पिंडो जात्यापि नाम्नापि समो युक्त्यापि योजितः ।
पिंडोऽस्ति स्वार्थनाशार्थो यदा तं हापयेत्तदा ॥१४॥

अर्थ—शरीर भी पुद्गल है और आहार भी पुद्गल है तथा शरीरको भी पिंड कहते हैं और आहारको भी पिंड कहते हैं। इसप्रकार जो आहार पुद्गलत्व जातिसे और पिंड इस नामसे शरीरके समान है तथा शास्त्रोक्त विधिसे जिसका प्रयोग किया गया है वही आहार यदि शरीरसे संबंधित होकर स्वार्थ नाश करे तो उस समय समाधिमरण करनेवाले श्रावकको उस आहारका त्याग कर देना चाहिये। भावार्थ—शरीरको बलवान करना, बढ़ाना और तेजस्वी

करना आहार लेनेका फल है तथा धर्मसाधनपूर्वक आत्मकार्य करना शरीरका स्वार्थ है । जब आहार लेते हुये भी शरीर जर्जरित होता जाता है जिससे कि किसीप्रकार धर्मसाधन नहीं हो सकता तो ऐसे समयमें आहारका त्याग करना ही उचित है । कदाचित् यहांपर कोई यह कहे कि विधिरहित किया हुआ भोजन भी स्वार्थ त्याग करता है तो उसका समाधान करनेके लिये ग्रंथकारने युक्त्या योजितः पद दिया है अर्थात् यदि शास्त्रोक्त विधिसे दिया हुआ आहार स्वार्थ त्याग करे तो उसका त्याग करना चाहिये। अपि शब्द आश्चर्यवाचक है अर्थात् यह आश्चर्य है कि आहार शरीरका सजातीय और नामराशी होकर भी शरीरके स्वार्थका नाश करता है ॥ १४॥

आगे—विधिपूर्वक सल्लेखनाकर समाधिमरणका उद्योग करना चाहिये ऐसा कहते हैं—

उपवासादिभिः कायं कषायं च श्रुतामृतैः ।
संलिख्य गणमध्ये स्यात्समाधिमरणोद्यमी ॥१५॥

अर्थ—साधक श्रावकको उपवास आदि बाह्य तपश्चरणके द्वारा शरीरको कृश करके तथा श्रुतज्ञानरूपी अमृतसे क्रोधादि कषायोंको कृश करके मुनि अर्जिका श्रावक श्राविका ऐसे चारों प्रकारके संघके सामने समाधिमरण करनेके लिये तैयार होना चाहिये ॥१५॥

आगे—मरनेके समय धर्मको त्याग करने और उसके आराधन करनेका विशेष फल कहते हैं—

आराद्धोऽपि चिरं धर्मो विराद्धो मरणे मुधा ।
सत्वाराद्धस्तत्क्षणेऽहः क्षिपत्यपि चिरार्जितं ॥१६॥

अर्थ—चिरकालसे आराधन किया हुआ धर्म भी यदि मरनेके समय छोड़ दिया जाय वा उसकी विराधना की जाय तो वह निष्फल हो जाता है, फिर वह अपना फल नहीं दे सकता और यदि मरनेके समय उस धर्मकी आराधना की जाय तो वह मरनेके समय आराधन किया हुआ धर्म असंख्यात करोडों भवोंमें उपार्जन किये हुये पापोंको भी नाश कर देता है ॥१६॥

आगे—यदि कोई मुनि चिरकालसे योग्य संयम पालन करता हो परंतु उसने मरनेके समय संयम छोड़ दिया हो तो उसकी अपकीर्ति और स्वार्थनाश होता है ऐसा दिखलाते हैं—

नृपस्येव यतेर्धर्मो चिरमभ्यस्तिनोऽस्त्रवत् ।
युधीव स्खलितो मृत्यौ स्वार्थभ्रंशोऽयशःकटुः ॥१७॥

अर्थ—मुनिका धर्म राजाके समान है । जिस राजाने बहुत दिनसे अस्त्र शस्त्र विद्याका अभ्यास किया हो परंतु यदि वह युद्धमें अस्त्र शस्त्र चलानेसे स्खलित हो जाय तो जैसे उसका अपकीर्तिसे अत्यंत दुःख देनेवाला स्वार्थनाश होता है उसीप्रकार चिरकालसे अभ्यास करनेवाले मुनिका धर्म भी यदि मरनेके समय स्खलित हो जाय तो उस मुनिकी अपकीर्ति भी होती है और उसके इच्छानुसार फलकी सिद्धि भी नहीं हो सकती । इसलिये अंत समयमें धर्मको कभी नहीं छोड़ना चाहिये ॥१७॥

आगे—कदाचित् कोई ऐसी शंका करे की किसीके धर्माचरणका अभ्यास करते हुये भी समाधिमरण नहीं होता और किसीके विना अभ्यासके भी हो जाता है इसलिये समाधि-

मरणके लिये धर्माचरण कारण नहीं है ऐसी शंकाके निराकरण करनेके लिये दो श्लोक कहते हैं—

सम्यग्भावितमार्गोऽन्ते स्यादेवाराधको यदि ।
प्रतिरोधि सुदुर्वारं किंचिन्नोदेति दुष्कृतं ॥१८॥

अर्थ—सैकडों यत्नोंसे भी जिसको निवारण नहीं कर सकते और जो समाधिको रोकनेवाला है ऐसा कोई पूर्वभवमें किये हुये अशुभ कर्मका उदय यदि मरण समयमें न हो तो जिसने चिरकालसे पूर्ण रत्नत्रयका आराधन किया है वह श्रावक अथवा यति मरण समयमें अवश्य ही रत्नत्रयरूप धर्मका आराधन करता है। भावार्थ—चिरकालसे अभ्यास करनेवालेके भी अंत समयमें समाधिमरण नहीं होता उसमें पूर्वकृत अशुभ कर्मोंका तीव्र उदय ही कारण है, यदि वह उदय न होता तो वह अवश्य ही समाधि धारण करता। कहा भी है "मृतिकाले नरा हंत संतोऽपि चिरभाविताः। पतंति दर्शनादिभ्यः प्राक्कृताशुभगौरवात्।" अर्थात् "बड़ा आश्चर्य है कि जिन सज्जनोंने चिरकालसे सम्यग्दर्शन आदिका अभ्यास किया है वे भी मरनेके समय पहिले किये हुये तीव्र अशुभ कर्मके उदयसे दर्शनादिकसे च्युत हो जाते हैं ॥१८॥

यात्वभावितमार्गस्य कस्याप्याराधना मृतौ ।
स्यादंधनिधिलाभोयमवष्टंभ्यो न मार्क्किकैः ॥१९॥

अर्थ—किसी किसी आसन्नभव्यके पूर्वकालके अभ्यासके विना ही मरणसमयमें जो रत्नत्रयकी एकाग्रता हो जाती है वह अंधे पुरुषको प्राप्त हुई निधिके समान है। इस विषयमें जिनेंद्रदे-

वके वचनोंकी आराधना करनेवाले भक्त पुरुषोंको दुराग्रह नहीं करना चाहिये। भावार्थ—जिसने समाधिका अभ्यास नहीं किया है तथापि मरणसमयमें समाधि हो गई है उसके वह समाधि होना अंधेको निधि मिलनेके समान है। इसलिये समाधिमरण धारण करनेमें सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये। अंधेको निधि मिलनेके न्यायकी सब जगह योजना करके दुराग्रह नहीं करना चाहिये। कहा भी है " पूर्वमभावितयोगो यद्यप्याराधयेन्मृतौ कश्चित्। स्थाणौ निधानलाभो निदर्शनं नैव सर्वत्र।" अर्थात् " जिसने पहिले समाधिका अभ्यास नहीं किया है वह भी मरण समयमें समाधिकी आराधना कर सकता है परंतु यह आराधना किसी ठूंठमें प्राप्त हुई निधिके समान है और न यह दृष्टांत सब जगह चरितार्थ ही होता है ॥१९॥

आगे—दूर भव्योंको व्रताचरण करनेपर भी मोक्ष नहीं मिल सकती इसलिये उनका व्रतादि करना भी व्यर्थ है, इस शंकाका समाधान करते हैं—

कार्यो मुक्तौ दवीयस्यामपि यत्नः सदा व्रते ।
वरं स्वः समयाकारो व्रतान्न नरकेऽव्रतात् ॥२०॥

अर्थ—यद्यपि मोक्ष प्राप्त होना अत्यंत दूर हो तथापि भक्त जीवोंको व्रत धारण करनेमें सदा तत्पर रहना चाहिये। क्योंकि व्रतोंके अनुष्ठान करनेसे उपार्जन किये हुये पुण्यके विपाकसे मोक्ष प्राप्त होनेपर्यंततक पहिला समय स्वर्गमें व्यतीत करना अच्छा है परंतु हिंसादि अव्रतोंके आचरणसे उपार्जन किये हुये पापोंके विपा-

करके मोक्षपर्यंततकका शेष काल नरकादि दुर्गतियोंमें व्यतीत करना अच्छा नहीं है ॥२०॥

आगे—भोजन त्याग करनेकी योग्यता दिखलाते हैं—

धर्मायव्याधि दुर्भिक्षजरादौ निष्प्रतिक्रिये ।
त्यक्तुं वपुः स्वपाकेन तच्च्युतौ चाशनं त्यजेत् ॥२१॥

अर्थ—जिनका कुछ भी प्रतीकार वा उपाय न हो सके ऐसे व्याधि, दुर्भिक्ष, जरा और उपसर्ग आदि धर्मके नाश करनेके कारण उपस्थित होनेपर अथवा समयानुसार आयु कर्मके पूर्ण होनेसे शरीरके नष्ट होनेपर तथा वा शब्दसे घोर उपसर्गादिके द्वारा शरीरके नष्ट करानेपर भवांतरमें धर्मको आत्माके साथ ले जानेके अर्थ शरीरको छोडनेके लिये यति अथवा श्रावकको आहारका त्याग कर देना चाहिये। इस श्लोकसे यह भी सूचित होता है कि व्याधि दुर्भिक्ष आदिके द्वारा शरीरका छूटना, आयु पूर्ण होनेपर शरीरका च्युत होना और उपसर्गादिके द्वारा च्युत कराना ऐसे तीन प्रकारका मरण होता है और तीनों ही मरणोंमें तीन ही प्रकारसे आहारका त्याग किया जाता है ॥२१॥

आगे—समाधिमरण धारण करनेकेलिये शरीरके उपचार करनेकी विधि कहते हैं—

अन्नैः पुष्टो मलैर्दुष्टो देहो नांते समाधये ।
तत्कर्श्यो विधिना साधोः शोध्यश्चायं तदीप्सया ॥२२॥

अर्थ—जो शरीर आहारादिकसे पुष्ट किया गया है तथा जिसमें वात पित्त कफ आदिसे अनेक विकार उत्पन्न हुये हैं ऐसे

शरीरसे मरणसमयमें समाधि धारण नहीं हो सकती। इसलिये सिद्धि-को सिद्ध करनेवाले साधक श्रावकको सल्लेखनाकी विधिसे यह शरीर कृश करना चाहिये, और समाधिकी इच्छा करके योग्यतानु-सार विरेचन (जुलाव), वस्तिकर्म (पिचकारी देना) आदि कारणोंसे इसका मल निकालकर इसे शुद्ध करना चाहिये ॥२२॥

आगे—कषाय कृश करनेके विना शरीर कृश करना व्यर्थ है ऐसा समर्थन करते हैं—

सल्लेखना संल्लिखतः कषायान्निष्फला तनोः ।
कायोऽजडैर्दंडयितुं कषायानेव दंड्यते ॥२३॥

अर्थ—जो साधु क्रोधादि कषायोंको कृश नहीं करता है और शरीरको कृश करता है उसके शरीरका कृश करना व्यर्थ है। क्योंकि बुद्धिमान पुरुष कषायोंके निग्रह करनेकेलिये ही क्लेशादि सहनकर शरीरको कृश करते हैं, रस रक्त मज्जा आदि धातुओंके कृश करनेके लिये शरीरको कृश नहीं करते। इसलिये शरीरके साथ कषायोंको मुख्यरीतिसे कृश करना चाहिये ॥२३॥

आगे—जिनका मन आहारमें लीन हो रहा है ऐसे श्रावकों-को कषाय जीतना कठिन है इसलिये जो कोई अपने भेदविज्ञानसे इनको जीतता है उसका जयवाद करते हैं—

अंधो मदांधैः प्रायेण कषायाः संति दुर्जयाः ।
ये तु स्वांगांतरज्ञानात्तान् जयंति जयंति ते ॥२४॥

अर्थ—जो पुरुष आहारसे उत्पन्न हुये मनके दर्पसे अंधे हो रहे हैं अर्थात् जो स्वपरतत्वज्ञानसे रहित हैं ऐसे पुरुषोंसे प्रायः

कषायोंका जीतना अशक्य है । प्रायः कहनेसे कदाचित् दैवयोगसे वे भी जीत सकते हैं । इसलिये जो पुरुष आत्मा और शरीरको भिन्न जानकर उस भेदविज्ञानसे उन कषायोंको जीतते हैं वे ही पुरुष इस संसारमें सर्वोत्कृष्ट जयशील होते हैं, अर्थात् वे समस्त संसारसे अधिक सुशोभित होते हैं ॥२४॥

इसप्रकार शरीर और आहारके त्याग करनेका विधान कहकर अब साधकको प्रिय पदार्थोंका त्यागकर स्वात्म समाधिकेलिये प्रेरणा करते हैं—

गहनं न तनोर्हानं पुंसः किंत्वत्र संयमः ।
योगानुवृत्तेर्व्यावर्त्य तदात्मात्मनि युज्यतां ॥२५॥

अर्थ—पुरुषको शरीर छोड़ देना कुछ कठिन नहीं है क्योंकि अनेक स्त्रियां भी ऐसी देखी जाती हैं जो अपने प्रिय पति आदिके वियोग होनेपर अपना शरीर छोड़ देती हैं । किंतु शरीरके छोड़ देनेके समय संयमका पालन करना अत्यंत कठिन है । इसलिये समाधि धारण करनेवाले श्रावकोंको अपना आत्मा मन वचन कायके व्यापारोंसे हटाकर अपने आत्मामें ही लीन करना चाहिये। भावार्थ—मन वचनकायका व्यापार छोड़कर केवल आत्माका ध्यान करना चाहिये ॥२५॥

आगे—श्रावक और यति दोनोंको समाधिमरणका फल दिखलाते हैं—

श्रावकः श्रमणो वांते कृत्वा योग्यं स्थिराशयः ।
शुद्धस्वात्मरतः प्राणान् मुक्त्वा स्यादुदितोदयः ॥२६॥

अर्थ—जो संयमी मरनेके अंत समयमें इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें कहे हुये परिकर्मोंको करके निश्चल चित्त होकर अपने शुद्ध चिद्रूप आत्मामें लीन होता हुआ प्राणोंको छोड़ता है, वह चाहे श्रावक हो अथवा मुनि हो प्राणोंको छोड़कर अनेक प्रकारके अद्भुत स्वर्गादि सुखोंका अनुभव करता हुआ अंतमें मुक्त होता है ।२६।

आगे—समाधिमरण करानेवाले आचार्य वा गृहस्थाचार्यके वलसे अपने आत्माको चितवन करनेवालेके समाधिमरणमें कोई अंतराय वा विघ्न नहीं आता ऐसा दिखलाते हैं—

> समाधिसाधनचणे गणेशे च गणे च न ।
> दुर्दैवेनापि सुकरः प्रत्यूहो भावितात्मनः॥२७॥

अर्थ—रत्नत्रयकी एकाग्रताके संपादन करनेमें प्रसिद्ध ऐसे गणेश अर्थात् निर्यापकाचार्य और चारों प्रकारका संघ इन दोनोंके उपस्थित रहते हुये समाधिके लिये अपने आत्माको चितवन करनेवाले साधकको उसके पूर्व भवके अशुभ कर्मोंके उदयसे भी कोई विघ्न सहज रीतिसे नहीं हो सकता और अपि शब्दसे न किसी शत्रु आदिकी ओरसे कोई विघ्न हो सकता है । भावार्थ—अशुभ कर्मका उदय भी उसे समाधिसे चलायमान नहीं कर सकता ॥२७॥

आगे—दो श्लोकोंमें समाधिमरणकी महिमाकी स्तुति करते हैं—

> प्राग्जंतुनामुनानंताः प्राप्तास्तद्भवमृत्यवः ।
> समाधिपुण्यो न परं परमश्चरमक्षणः ॥२८॥

अर्थ—इस संसारी जीवको इस वर्तमान समयसे पहिले भवांतरमें ले जानेवाले अनंतानंत मरण प्राप्त हुये हैं, परंतु संसारके कारण ऐसे कर्मोंके नाश करनेकी सामर्थ्य होनेसे समस्त क्षणोंमें उत्कृष्ट तथा रत्नत्रयकी एकाग्रता होनेसे पवित्र ऐसा संसारकी पर्याय नाश होनेका अंतिम समय कभी प्राप्त नहीं हुआ। भावार्थ—इस अनादि संसारमें परिभ्रमण करते हुये इस जीवने अनंत ही मरण किये परंतु अबतक समाधिमरण एकवार भी प्राप्त नहीं हुआ ॥२८॥

परं शंसंति माहात्म्यं सर्वज्ञाश्चरमक्षणे ।
यस्मिन्समाहिता भव्या भंजंति भवपंजरं ॥२९॥

अर्थ—समाधिको प्राप्त हुये भव्य जीव अंतके जिस समयमें शुक सारिका आदि पक्षियोंको परतंत्रताके बंधनमें डालनेवाले पिंजरेके समान जीवोंको परतंत्रताके बंधनमें बांधनेवाले संसाररूपी पिंजरेको नष्ट करते हैं उस अंतके समयका माहात्म्य सर्वज्ञदेव सर्वोत्कृष्ट वर्णन करते हैं। भावार्थ—मोक्षके कारण ऐसे समाधिमरणका माहात्म्य सर्वोत्कृष्ट है ॥२९॥

आगे—संन्यास धारण करनेके लिये क्षेत्रविशेष स्वीकार करनेको कहते हैं—

प्रायार्थी जिनजन्मादिस्थानं परमपावनं ।
आश्रयेत्तदलाभे तु योग्यमर्हद्गृहादिकं ॥३०॥

अर्थ—संन्यास अथवा संन्यासमें होनेवाले उपवास आदिकी इच्छा करनेवाले साधक श्रावकको अतिशय पवित्र और पवित्र करनेवाले जिनेंद्रदेवके जन्मस्थान तपस्थान केवलज्ञानस्थान और निर्वाण-

स्थान आदि तीर्थक्षेत्रोंका आश्रय लेना चाहिये। जैसे वृषभनाथका जन्मस्थान अयोध्या है, दीक्षास्थान सिद्धार्थ वन है केवलज्ञानका स्थान शकटमुख नामका वन है और निर्वाणस्थान कैलाश पर्वत है॥ इसीतरह और भी सब तीर्थंकरोंके स्थान अन्य शास्त्रोंसे जान लेने चाहिये। कदाचित् ऐसे स्थानोंकी प्राप्ति न हो सके तो समाधिके साधन करने योग्य जिनालय, चैत्यालय वा संयताश्रम (मुनियोंके रहनेका स्थान) आदिकोंका आश्रय लेना चाहिये। भावार्थ—ऐसे स्थानोंमें जाकर संन्यास धारण करना चाहिये ॥३०॥

आगे—किसी तीर्थके लिये गमन करनेवालेका यदि मार्गमें ही मरण हो जाय तो वह भी आराधक है ऐसा दिखलाते हैं—

प्रस्थितो यदि तीर्थाय म्रियतेवांतरे तदा।
अस्त्येवाराधको यस्माद्भावना भवनाशिनी ॥३१॥

अर्थ—जिसने जिनेंद्रदेवके कल्याणकस्थानोंमें जानेके लिये अथवा निर्यापकाचार्यके समीप जानेके लिये गमन करना प्रारंभ कर दिया है ऐसे समाधिकी इच्छा करनेवालेका यदि बीचमें ही मरण हो जाय तो भी वह आराधक गिना जाता है। क्योंकि समाधि धारण करनेकेलिये मन वचन कायकी एकाग्रता ही संसारका नाश करनेवाली है। यहांपर तीर्थस्थानोंके मार्गमें मरण होना उपलक्षण है। इससे यह भी समझ लेना चाहिये कि यदि निर्यापकाचार्यका भी मरण हो जाय तथापि वह आराधक ही माना जाता है ॥३१॥

आगे—समाधिके लिये तीर्थको गमन करते समय सब लोगोंसे क्षमा मांगना चाहिये और सबको क्षमा करना चाहिये ऐसा कहते हैं—

रागाद्द्वेषान्ममत्वाद्वा यो विराद्धो विराधकः ।
यश्च तं क्षमयेत्तस्मै क्षाम्येच्च त्रिविधेन सः ॥२२॥

अर्थ—जिसको राग द्वेष अथवा ममत्वसे दुःख पहुंचाया है उससे तीर्थक्षेत्रपर जानेकी इच्छा करनेवाले साधक श्रावकको मनवचन कायसे क्षमा मांगना चाहिये और जो रागद्वेषादिके निमित्तसे अपने मनको वैमनस्य उत्पन्न करनेवाला हो उसको मन बचन कायसे क्षमा करना चाहिये ॥२२॥

आगे—क्षमा करने कराने और न करने करानेका फल कहते हैं—

तीर्णो भवार्णवस्तैर्ये क्षाम्यंति क्षमयंति च ।
क्षाम्यंति न क्षमयतां ये ते दीर्घजवंजवा ॥२३॥

अर्थ—जो पुरुष अपराध करनेवालोंको क्षमा कर देते हैं और अपने किये हुये अपराधोंकी दूसरेसे क्षमा मांग लेते हैं वे संसार-रूपी समुद्रसे पार हो जाते हैं, और जो दूसरोंसे क्षमा नहीं मांगते और न क्षमा मांगनेवालोंको क्षमा करते हैं वे चिरकालतक संसारमें परिभ्रमण करते हैं। इसलिये अंत समयमें सबसे क्षमा मांगना चाहिये और सबको क्षमा करना चाहिये ॥२३॥

आगे—क्षपककी आलोचना विधि कहते हैं—

योग्यायां वसतौ काले स्वागः सर्वं स सूरये ।
निवेद्य शोधितस्तेन निःशल्यो विहरेत्पथि ॥२४॥

अर्थ—इस क्षपक श्रावकको आलोचना करनेके योग्य वसतिका आदि स्थान और योग्य समयमें निर्यापकाचार्यको अपने व्रतादिकोंमें

लगे हुये समस्त अतिचारोंको कहकर उनकी आलोचना करनी चाहिये, और आचार्यद्वारा दिये हुये प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त आदि विधिसे समस्त दोषोंको दूरकर माया मिथ्या निदान इन तीनों शल्यों-से रहित होकर मोक्षमार्गमें यथेष्ट विहार करना चाहिये। भावार्थ—इच्छानुसार रत्नत्रय धारण करना चाहिये ॥३४॥

आगे—इसके संस्तरपर (सांतरेपर) बैठनेकी विधि कहते हैं—

विशुद्धिसुधया सिक्तः स यथोक्तं समाधये।
प्रागुदग्वा शिरः कृत्वा स्वस्थः संस्तरमाश्रयेत् ॥३५॥

अर्थ—जिसने मन वचनकायकी निर्मलता अथवा प्रायश्चित्ता-दिकसे प्राप्त हुये विशुद्धिरूपी अमृतसे यथेष्ट स्नान किया है ऐसे इस क्षपकको स्वस्थ होकर अर्थात् मन वचन कायकी चंचलता छोड़कर समाधिके लिये पूर्व दिशाकी ओर अथवा उत्तर दिशाकी ओर अपना शिर करके शास्त्रमें लिखी हुई विधिके अनुसार बनाये हुये सांतरेका आश्रय लेना चाहिये ॥३५॥

आगे—सांतरेका आश्रय लेनेके समय महाव्रतकी इच्छा करने-वाले आर्यको नग्नव्रत देना चाहिये ऐसा कहते हैं—

त्रिस्थानदोषयुक्तायाप्यापवादिकलिंगिने।
महाव्रतार्थिने दद्याल्लिंगमौत्सर्गिकं तदा ॥३६॥

अर्थ—महाव्रत ग्रहण करनेकी इच्छा करनेवाला परिग्रह सहित आर्य श्रावक यद्यपि दोनों वृषण और लिंग ऐसे तीनों स्थानोंमें दोष सहित है तथापि उसे सांतरेपर बैठने वा लेटनेके समय निर्यापकाचार्य-

को समस्त परिग्रहके त्यागरूप औत्सर्गिक (स्वाभाविक) अचेलक्यादि चारों प्रकारके चिन्ह दे देना चाहिये अर्थात् उसे दिगंबर अवस्था वा नग्नव्रत दे देना चाहिये । दोनों वृषणोंमें रक्तवृद्धिसे बड़े हो जाना, वायुवृद्धिसे बड़े हो जाना, और जलवृद्धिसे बड़े हो जाना तथा कुछ लंबे हो जाना आदि दोष हैं। इसीप्रकार लिंगमें अग्रभाग चर्म रहित होना, अति दीर्घ होना और बार बार उत्पानशील होना आदि दोष हैं । ये दोष औत्सर्गिक चिन्हमें बाधक हैं परंतु मरणसमयमें ये बाधक दोष रहनेपर भी यदि उसकी इच्छा हो तो उसे औत्सर्गिक चिन्ह दे देना चाहिये ॥३६॥

आगे—उत्कृष्ट श्रावकको भी उपचरित महाव्रतकी अयोग्यता दिखलाते हैं—

कौपीनेऽपि समूर्च्छत्वान्नार्हत्यार्यो महाव्रतं ।
अपि भाक्तममूर्च्छत्वात्साटकेऽप्यार्यिकार्हति ॥३७॥

अर्थ—परमोत्कृष्ट आर्य श्रावक केवल कौपीनमात्रमें ममत्व परिणाम रखनेसे उपचरित महाव्रत धारण करनेके भी योग्य नहीं होता, और अर्जिका अपनी साड़ीमें ममत्व परिणाम न रखनेसे उपचरित महाव्रतके योग्य होती है । भावार्थ— जो पुरुष महाव्रत धारणकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है उसके लंगोटी मात्रमें ममत्व परिणाम होनेसे वह उपचरित महाव्रतके भी अयोग्य गिना जाता है, और स्त्री जो महाव्रत धारण नहीं कर सकती वह इतनी बड़ी साडी रखनेपर भी उसमें ममत्व न रखनेसे उपचरित महाव्रत धारण कर सकती है । यह कथन सांतरके ग्रहण करनेके समयका नहीं है उससे भिन्न समयका है केवल प्रसंग पाकर इस जगह कह दिया है ॥३७॥

आगे—जो वृषणमेहनके दोषोंसे रहित हैं वे सब सबजगह उत्कृष्ट औत्सर्गिक चिन्ह धारण नहीं कर सकते ऐसा कहते हैं—

ह्रीमान्महर्द्धिको यो वा मिथ्यात्वप्रायबांधवः।
सोऽविविक्ते पदे नाग्न्यं शस्तलिंगोऽपि नार्हति ॥३८॥

अर्थ—जिसके माता पिता इष्ट मित्र भाई और जातिके लोग प्रायः मिथ्यादृष्टि हैं अथवा जो लज्जावान् हैं अथवा जो श्रीमान् हैं वे श्रावक यद्यपि ऊपर लिखे हुये वृषण और मेहनके दोषोंसे रहित हों तथापि अनेक लोगोंके सामने वे नग्नपना धारण नहीं कर सकते। हां, ऐसे श्रावक एकांत स्थानमें नग्नपना धारण कर सकते हैं ॥३८॥

आगे—सांतरा ग्रहण करनेके समय स्त्रियोंके लिये धारण करने योग्य चिन्होंके भेद दिखलाते हैं—

यदौत्सर्गिकमन्यद्वा लिंगमुक्तं जिनैः स्त्रियाः।
पुंवत्तदिष्यते मृत्युकाले स्वल्पीकृतोपधेः ॥३९॥

अर्थ—जिनेंद्रदेवने स्त्रियोंके लिये जो औत्सर्गिक लिंग (निर्गंथ लिंग वा दिगंबर अवस्था) अथवा आपवादिक (परिग्रह-सहित) चिन्ह कहे हैं वे उनको एकांत वसतिकाकी प्राप्ति होना आदि योग्य सामग्री मिलनेपर साड़ी आदि वस्त्रोंका भी त्यागकर पुरुषोंके समान ही मृत्युसमयमें धारण करने चाहिये। ऐसा शास्त्रके जाननेवाले लोगोंका मत है। अभिप्राय यह है कि जिसप्रकार औत्सर्गिक चिन्ह धारण करनेवाले पुरुषको मरणसमयमें औत्सर्गिक लिंग ही कहा है और आपवादिक चिन्ह धारण करनेवालेको ऊपर लिखे अनुसार योग्यता और इच्छा होनेपर औत्सर्गिक चिन्ह कहा है उसीप्रकार स्त्रियोंका भी चिन्ह जान लेना चाहिये ॥३९॥

आगे—मोक्षकी इच्छा करनेवाले क्षपकको सब चिन्होंका आग्रह छोड़कर आत्मद्रव्यका ग्रहण करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं—

देह एव भवो जंतोर्यल्लिंगं च तदाश्रितं ।
जातिवत्तद्ग्रहं तत्र त्यक्त्वा स्वात्मग्रहं विशेत् ॥४०॥

अर्थ—इस जीवका शरीर ही संसार है क्षेत्रादिक संसार नहीं है। क्योंकि शरीर धारण करनेसे ही पंच परावर्तनरूप संसारमें परिभ्रमण करता है। जिसप्रकार ब्राह्मण आदि जाति शरीरके आश्रय हैं उसीप्रकार नग्नपना आदि चिन्ह भी शरीर संबंधी ही हैं इसलिये मोहनीय कर्मको क्षय करनेवाले श्रावक अथवा मुनिको ब्राह्मणत्व आदि जातिके समान नग्नपना आदि चिन्हमें अपना आग्रह छोड़कर शुद्ध चिद्रूपमय स्वात्मामें मग्न होना चाहिये ॥४०॥

आगे—परद्रव्यका ग्रहण करना बंधका कारण है इसलिये इसके प्रतिकूल भावनाओंका उपदेश देते हैं—

परद्रव्यग्रहेणैव यद्बद्धोऽनादिचेतनः ।
तत्स्वद्रव्यग्रहेणैव मोक्ष्यतेतस्तमावहेत् ॥४१॥

अर्थ—यह आत्मा शरीरादि पर द्रव्योंके ग्रहण करनेसे ही अनादि कालसे ज्ञानादि कर्मोंके परतंत्र हुआ है इसलिये यह स्वद्रव्य अर्थात् शुद्ध आत्माके ग्रहण करनेसे ही मुक्त होगा। अतएव मोक्षकी इच्छा करनेवाले इस आत्माको अपना शुद्ध आत्मद्रव्य ही ग्रहण करना चाहिये, और परद्रव्य सर्वथा छोड़ देना चाहिये ॥४१॥

आगे—शुद्धि और विवेककी प्राप्तिपूर्वक होनेवाले समाधि-मरणकी स्तुति करते हैं—

अलब्धपूर्वं किं तेन न लब्धं येन जीवितं।
त्यक्तं समाधिना शुद्धिं विवेकं चाप्य पंचधा ॥४२॥

अर्थ—जिसने आगे कही हुई पांच प्रकारकी शुद्धि और पांच प्रकारके विवेकको पाकर रत्नत्रयकी एकाग्रतारूप समाधिसे अपने जीवनका त्याग किया है उस महा भव्य पुरुषने अनादिकालसे जो पहिले कभी प्राप्त नहीं हुये थे ऐसे कौन कौन सम्यक्त्वके साथ होनेवाले स्वर्ग मोक्ष आदिके महा अभ्युदय प्राप्त नहीं किये? भावार्थ—समाधि धारण करनेवालेको सबतरहके अभ्युदयोंकी प्राप्ति होती है ॥४२॥

आगे—पांच प्रकारकी बहिरंग शुद्धि और पांच प्रकारकी अंतरंग शुद्धि कहते हैं—

शय्योपध्यालोचनान्नवैयावृत्त्येषु पंचधा।
शुद्धिः स्याद् दृष्टि धीवृत्तविनयावश्यकेषु वा ॥४३॥

अर्थ—वसति और सांतरेका नाम शय्या है, संयमके साधन उपकरणादिकोंको उपधि कहते हैं, चार प्रकारके आहारका नाम अन्न है, गुरुके सन्मुख व्रतादिकोंमें लगे हुये दोषोंके कहनेको आलोचना कहते हैं, परिचारक लोग जो पैर दाबना आदि सेवा करते हैं उसको वैयावृत्य कहते हैं। इन पांचों शय्यादिकोंमें प्राणियोंकी रक्षा और इंद्रियोंके संयमपूर्वक प्रवृत्ति करना पांच प्रकारकी बहिरंग शुद्धि कहलाती है। तथा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, विनय और सामायिक आदि छह प्रकारके आवश्यक इनमें अतिचार रहित प्रवृत्ति करना पांच प्रकारकी अंतरंग शुद्धि कहलाती है ॥४३॥

आगे—शुद्धिके समान दो तरहके अभिप्रायोंसे पांचप्रकारका विवेक कहते हैं—

विवेकोऽक्षकषायांगभक्तोपाधिषु पंचधा ।
स्याच्छय्योपधिकायान्नवैयावृत्यकरेषु वा ॥४४॥

आगे—आत्माको शरीरादिकसे पृथक् चिंतवन करनेका नाम विवेक है। उसके दो भेद हैं, पहिला भावविवेक और दूसरा द्रव्यविवेक। इंद्रिय और कषायोंसे आत्माको पृथक् चिंतवन करना भावविवेक है और शरीर, आहार तथा संयमके उपकरणादिकोंसे आत्माको पृथक् चिंतवन करना द्रव्यविवेक है। इसतरह दो प्रकारका भावविवेक और तीन प्रकारका द्रव्यविवेक मिलकर पांच प्रकारका विवेक होता है। अथवा मतांतरसे कहते हैं कि शय्या, उपधि, शरीर, अन्न और वैयावृत्य करनेवाले इन पहिले श्लोकोंमें कहे हुये पांचोंसे आत्माको पृथक् चिंतवन करना पांच प्रकारका विवेक है ॥४४॥

आगे—निर्ग्रंथ और सग्रंथके महाव्रतोंकी भावनाओंकी विशेषताको कहते हैं—

निर्यापके समर्प्य स्वं भक्त्यारोप्य महाव्रतं ।
निश्चेलो भावयेदन्यस्त्वनारोपितमेव तत् ॥४५॥

अर्थ—संसाररूप समुद्रसे निकलनेवाले क्षपकको जो प्रेरणा करे ऐसे छत्तीस गुण विभूषित धर्माचार्यको निर्यापक कहते हैं। जिसने समस्त परिग्रहोंका त्याग कर दिया है ऐसे क्षपकको भक्तिपूर्वक अर्थात् शुभवृत्तिसे अपना आत्मा निर्यापकके आधीन कर देना चाहिये और फिर उनकी आज्ञानुसार भक्तिपूर्वक

पांचों महाव्रतोंको अपने आत्मामें स्थापनकर अर्थात् पांच महाव्रत, पांच समिति, और तीन गुप्ति ऐसे तेरह प्रकारके चारित्रको धारण-कर उस धारण किये हुये चारित्र वा महाव्रतोंका चित्तमें वार-वार चिंतवन करते रहना चाहिये। तथा जिसने परिग्रहका त्याग नहीं किया है ऐसे क्षपकको महाव्रत वा चारित्रको विना धारण किये ही उनका चिंतवन करना चाहिये। क्योंकि सग्रंथ पुरुषको महाव्रत धारण करनेका अधिकार नहीं है। भावार्थ—निर्ग्रंथ होने-पर महाव्रत धारणकर उनकी भावना करनी चाहिये और निर्ग्रंथ अवस्था धारण न करनेपर महाव्रतोंको विना धारण किये ही उनका चितवन करना चाहिये ॥४९॥

आगे—सांतरेपर प्राप्त हुये क्षपकके लिये पांचों अतिचारोंका त्याग कराकर सल्लेखनाकी विधिके अनुसार प्रवृत्ति करनेका उपदेश देते हैं—

जीवितमरणाशंसे सुहृदनुरागं सुखानुबंधमजन् ।
सनिदानं संस्तरगश्चरेच्च सल्लेखनाविधिना ॥४६॥

सांतरेपर निवास करनेवाले क्षपकको जीवित रहनेकी आकांक्षा, मरनेकी आकांक्षा, मित्रोंमें अनुराग करना, भोगे हुये सुखोंका अनुभव करना और निदान करना इन पांचों अतिचारोंका त्याग कर "जन्ममृत्युजरातंका" इत्यादि इसी अध्यायके तेरहवें श्लोकमें कही हुई सल्लेखनाकी विधिके साथ साथ धारण किये हुये अथवा धारण नहीं किये हुये महाव्रतोंका चिंतवन करना चाहिये।

जीविताशंसा—जो श्रावक "यह शरीर एक दिन अवश्य नष्ट होनेवाला है, जलके बबूलेके समान अनित्य है" इत्यादि चिंत-

वन न करके केवल शरीरकी स्थितिके लिये चिंतवन करता है उसके यह जीविताशंसा नामका अतिचार होता है। समाधिमरणके इस क्षपकका विशेष आदर सत्कार होता है, अपने अनेक सेवा करनेवाले परिचारकोंको देखकर प्रसन्न होता है सब लोगोंसे अपनी प्रशंसा सुनता है, इसलिये ऐसा मानता है कि यद्यपि मैंने चारों प्रकारके आहारका त्याग कर दिया है तथापि विना आहार पानीके भी थोड़े समयतक जीवित रहना अच्छा है। क्योंकि यह इतनी विभूति मेरे ही निमित्तसे देख पड़ती है इत्यादि आकांक्षाका नाम जीविताशंसा है।

मरणाशंसा—अनेक प्रकारके रोगोंके उपद्रवोंसे व्याकुल होकर अपने जीवनमें भी संक्लेश करता हुआ जो मरनेके लिये चिंतवन करता है उसके मरणाशंसा अतिचार कहा जाता है। अथवा—यद्यपि मैंने उपवास आदि धारण किया है तथापि न कोई मेरा आदर करता है न प्रशंसा करता है। इसलिये यदि मैं शीघ्र मरजाऊं तो भी अच्छा हो इत्यादि अनेक विकल्परूप परिणामोंका नाम भी मरणाशंसा है।

सुहृदनुराग—मेरे मित्रगणोंने मेरी बालक अवस्थामें रेतमें खेलना आदि अनेक तरहसे सहायता की थी, मेरे उत्सवोंमें इसप्रकार उत्साह दिखलाया था इत्यादि मित्रोंके किये हुये कर्तव्यके स्मरण करनेका नाम सुहृदनुराग है। अथवा बालक युवा आदि अवस्थाओंमें खेलने वा साथ रहनेवाले आदि मित्रोंका स्मरण करना मित्रानुस्मरण नामका तीसरा अतिचार होता है।

सुखानुबंध—मैंने इस भवमें ऐसे ऐसे भोग किये हैं, ऐसे ऐसे शयन, ऐसे ऐसे खेल किये हैं इत्यादि प्रीतिके कारणविशेषोंका बार बार स्मरण करना सुखानुबंध है।

निदान—मैंने जो यह कठोर तपश्चरण किया है इसके प्रभावसे मैं दूसरे जन्ममें इंद्र होऊं, चक्रवर्ति होऊं, अथवा धरणेंद्र होऊं इत्यादि अनागत अभ्युदयोंकी आकांक्षा करना निदान है ॥४६॥

आगे—निर्यापकाचार्य सांतरेपर बैठे हुये क्षपकका क्या कार्य करके फिर क्या कार्य करे सो कहते हैं—

यतीन्नियुज्य तत्कृत्ये यथार्हं गुणवत्तमान् ।
सूरिस्तं भूरि संस्कुर्यात्स ह्यार्याणां महाक्रतुः ॥४७॥

अर्थ—निर्यापकाचार्यको उस आराधकके शरीर कार्योंमें विकथा निवारण करने, धर्मकथा सुनाने, भोजन पान, सांतरा आदिके शोधने, कफ आदि मलके दूर करने आदि कार्य करनेके लिये मोक्षके कारण ऐसे रत्नत्रय गुणसे सुशोभित मुनियोंको यथायोग्य रीतिसे नियोजित करना चाहिये, और फिर उस क्षपकके रत्नत्रयका दृढ़ संस्कार करना चाहिये। उस क्षपकके शरीरादिकार्योंसे मुनियोंको कुछ संकोच नहीं करना चाहिये क्योंकि समाधिकी कारण ऐसी विधिको करना ही मुनियोंका परम यज्ञ है ॥४७॥

आगे—क्षपकको विशेष विशेष आहार बतलाकर उसकी भोजनकी लंपटता दूर कर देनी चाहिये ऐसा कहते हैं—

योग्यं विचित्रमाहारं प्रकाश्येष्टं तमाशयेत् ।
तत्रासजंतमज्ञानाज्ज्ञानाख्यानैर्निवर्तयेत् ॥४८॥

अर्थ—निर्यापकाचार्यको उचित है कि वह क्षपकको उसकी इच्छानुसार अनेक प्रकारके योग्य आहार दिखलाकर उसमेंसे थोड़ा अथवा उसकी इच्छानुसार सब आहार खिलावे। उन क्षपकोंमेंसे कोई तो ऐसा होता है जो उन आहारोंको देखकर "मैं मरनेके सन्मुख हुआ, अब इनको खाकर क्या करूंगा" इत्यादि रीतिसे वैराग्य और संवेग धारण करनेमें लीन हो जाता है, कोई क्षपक उसमेंसे थोड़ा खाकर उनसे विरक्त हो जाता है, कोई सब खाकर विरक्त हो जाता है। तथा कोई कोई मोहनीय कर्मके विपाककी विचित्रतासे उन पदार्थोंको खाकर उनका रस आस्वादन करनेमें लीन हो जाता है। जो क्षपक अज्ञानसे इष्ट पदार्थोंके खानेमें आसक्त हुआ हो तो उसको बोध करानेवाली प्रसिद्ध कथाओंके द्वारा आहारादिकसे विरक्त कराना चाहिये ॥४८॥

आगे—नौ श्लोकोंमें विशेष भोजनोंकी लंपटताका निषेध करते हुये उसके छोड़नेका क्रम बतलाते हैं—

भो निर्जिताक्ष विज्ञातपरमार्थमहायशः ।
किमद्य प्रतिभांतीमे पुद्गलाः स्वहितास्तव ॥४९॥

अर्थ—हे समस्त इंद्रियोंको वश करनेवाले ! हे परमार्थके जाननेवाले अर्थात् असाधारण रीतिसे निश्चय करनेयोग्य वास्तविक तत्त्वोंके निश्चय करनेवाले ! हे सकल दिशाओंमें अपनी कीर्ति फैलानेवाले ! आराधकराज ! आज क्या भोजन शयन आदि पौद्गलिक पदार्थ तुझे आत्माके उपकार करनेवाले जान पड़ते हैं ? भावार्थ—किं शब्दसे प्रश्न अथवा आक्षेप करते हैं कि तू इंद्रियोंको वश करने-

वाला और वास्तविक तत्वोंका जाननेवाला होकर भी आत्मासे सर्वथा भिन्न ऐसे पुद्गलोंको आत्माका उपकारक जानता है ? ॥४९॥

किं कोऽपि पुद्गलः सोऽस्ति यो भुक्त्वा नोज्झितस्त्वया ।
न चैष मूर्तोऽमूर्तेस्ते कथमप्युपयुज्यते ॥५०॥

अर्थ—क्या कोई ऐसा पुद्गल शेष रहा है कि जो इस संसारमें अनादिकालसे परिभ्रमण करतेहुये तूने इंद्रियप्रणालिकाओंके द्वारा उपभोगकर न छोड़ दिया हो ? तथा पुद्गल रूपादिविशिष्ट मूर्तिक है, तू अमूर्तिक है, मूर्तिक पुद्गल अमूर्तिक तेरे आत्माका उपकार किसीप्रकार भी नहीं कर सकता। भावार्थ—मूर्तिक पुद्गलसे अमूर्तिक आकाशका कोई उपकार नहीं होता उसीप्रकार तेरा भी उससे कोई उपकार नहीं हो सकता ॥५०॥

केवलं करणैरेनमलं ह्यनुभवन् भवान् ।
स्वभावमेवेष्टमिदं भुंजेहमिति मन्यते ॥५१॥

अर्थ—हे आराधक ! वास्तवमें तू पुद्गलोंका उपभोग नहीं करता किंतु चक्षुरादिक इंद्रियोंके द्वारा उनको विषयभूत करके अपने आत्मपरिणामोंका ही उपभोग करता है। क्योंकि वास्तवमें आत्माके उपभोग करने योग्य उसीके परिणाम हैं। उन आत्मपरिणामोंका अनुभव करता हुआ तू केवल ऐसा मानता है कि मैं अभिलषित सामने रक्खे हुये पदार्थोंका उपभोग करता हूं ॥५१॥

तदिदानीमिमां भ्रांतिमभ्याजोन्मिषतीं हृदि ।
स एव समयो यत्र जाग्रति स्वहिते बुधाः ॥५२॥

अर्थ—इसलिये यह प्रतीयमान अभोग्य पुद्गलमें भोग्यत्व-

बुद्धिरूप भ्रांति आज जो तेरे अंतःकरणमें उदय होनेके सन्मुख हो रही है उसको इससमय तू निवारण कर। क्योंकि यह वह समय है कि जिसमें तत्त्वोंके जाननेवाले पंडितलोग अपना हित करनेमें सावधान हो जाते हैं ॥५२॥

अन्योऽहं पुद्गलश्चान्य इत्येकांतेन चिंतय।
येनापास्य परद्रव्यग्रहावेशं स्वमाविशेः ॥५३॥

अर्थ—हे आराधक! इससमय तू सर्वथा ऐसा चिंतवन कर कि मैं पुद्गलसे भिन्न हूं और पुद्गल मुझसे भिन्न है क्योंकि पुद्गल मूर्तिक है, जड़ है और मैं अमूर्तिक चैतन्य स्वरूप हूं। इसप्रकार आत्मा और पुद्गलकी भिन्नता चिंतवन करनेसे आत्मद्रव्यसे भिन्न पुद्गलादि परद्रव्यके ग्रहण करनेके आवेशको (चिरकालसे होनेवाले बंधोपयोगको) छोड़कर तू स्वात्मद्रव्यमें प्रवेश करेगा। भावार्थ—परद्रव्यसे संबंध छोड़कर तेरा उपयोग आत्मामें ही लग जायगा ॥५३॥

क्वापि चेत्पुद्गले सक्तो म्रियेथास्तद्ध्रुवं चरेः।
तं कृमीभूय सुस्वादुचिर्भटासक्तभिक्षुवत् ॥५४॥

अर्थ—यदि तू उपयोगमें आनेवाले भोजनादि किसी पुद्गलमें आसक्त होता हुआ ही अपने प्राण त्याग करेगा तो अतिशय स्वादयुक्त अर्थात् रसना इंद्रियको अत्यंत लंपटता करनेवाली ककड़ीमें आसक्त होनेवाले सन्यास धारण करनेके लिये तत्पर एक मुनिके समान उसी पुद्गलमें लट आदि क्षुद्र जंतु होकर निश्चयसे उसी पुद्गलका भक्षण करेगा। भावार्थ—जिसप्रकार एक

मुनि ककडीमें लंपटता रखनेसे मरकर उसी ककडीमें लट हुआ था उसीप्रकार यदि तू भी किसीमें लंपटता रक्खेगा तो मरकर तू भी उसीमें लट आदि क्षुद्र जंतु उत्पन्न होगा । इसलिये तू इस समय किसी भोजनादिमें आसक्त मत हो ॥५४॥

किंचांगस्योपकार्यन्नं नचैतत्तत्प्रतीच्छति ।
तच्छिंधि तृष्णां, भिंधि स्वं देहाद्रुंधि दुरास्रवं ॥५५॥

अर्थ—हे आराधक ! अधिक क्या कहें इतना और समझ कि यद्यपि यह अन्न तेरे शरीरका उपकार करनेवाला है क्योंकि संसारमें मूर्तसे मूर्तद्रव्यका उपकार देखा जाता है । परंतु यह तेरा शरीर उपकारकपनेसे अन्न ग्रहण नहीं करता । इसलिये अब अन्नकी इच्छा करनेरूप तृष्णाका नाश कर तथा शरीरसे आत्माको भिन्न चिंतवन कर और अशुभ कर्मोंके आस्रव होनेके कारणोंको रोक ॥५५॥

इत्थं पथ्यप्रथासारैर्वितृष्णीकृत्य तं क्रमात् ।
त्याजयित्वाशनं सूरिः स्निग्धपानं विवर्द्धयेत् ॥५६॥

अर्थ—निर्यापकाचार्यको इस प्रकार ऊपर लिखे अनुसार हितोपदेशरूप मेघोंकी वर्षा करके उस आराधककी अन्न आदिकी तृष्णा दूर करनी चाहिये और फिर धीरे धीरे क्रमसे कवलाहारका त्याग कराकर दूध आदि पीने योग्य पदार्थोंको भरपेट पिलाना चाहिये ॥५६॥

पानं षोढा घनं लेपि ससिक्थं सविपर्ययं ।
प्रयोज्य हापयित्वा तत्खरपानं च पूरयेत् ॥५७॥

अर्थ—दही आदि पीने योग्य गाढे पदार्थोंको घन कहते हैं । तिंतडीक फलका रस, कांजी, थोडा गर्म जल आदिको अघन

वा पतला कहते हैं । हथेलीपर चिपकनेवाले पदार्थोंको लेपी और नहीं चिपकनेवालोंको अलेपी कहते हैं । भातके कण सहित पेय पदार्थोंको ससिक्थ और जिसमें भातके कण न हों ऐसे मांड आदिको असिक्थ कहते हैं । इस प्रकार घन, अघन, लेपी, अलेपी, ससिक्थ और असिक्थके भेदसे पीने योग्य पदार्थोंके छह भेद होते हैं । निर्यापकाचार्यको पहिले इन्हें परिचारकोंके द्वारा क्षपकको देना चाहिये और फिर उससे इनका त्याग कराना चाहिये। तदनंतर शुद्ध कांजी और उसको भी छुड़ाकर शुद्ध पानीका सेवन कराना चाहिये ॥५७॥

आगे—निर्यापकाचार्य उस क्षपकको किसप्रकार शिक्षा देवे सो छह श्लोकोंमें कहते हैं—

> शिक्षयेच्चेति तं सेयमंत्या सल्लेखनार्य ते ।
> अतिचारपिशाचेभ्यो रक्षैनामतिदुर्लभां ॥५८॥

अर्थ—आचार्यको उस क्षपकके लिये इसप्रकार शिक्षा देनी चाहिये कि हे आर्य ! तेरे यह मरणसमयमें होनेवाली सल्लेखना वह है कि जो अनेक गुण और गुणवानोंके आश्रय रहती है तथा जो आगममें प्रसिद्ध है। संसारमें परिभ्रमण करते हुये तुझे यह अबतक प्राप्त नहीं हुई थी तथा इसका प्राप्त होना भी अत्यंत अशक्य है । इसलिये अब प्राप्त हुई इस सल्लेखनाको छोटासा छिद्र पाकर ही उसमें प्रवेश करनेमें समर्थ ऐसे जीविताशंसा आदि पहिले कहे हुये अतिचाररूपी पिशाचोंसे रक्षा कर, अर्थात् इसका पालन कर । इस श्लोकमें दिये हुये चकारका संबंध पहिले श्लोकके च के साथ है।

दोनों चकार आगे पीछे कही हुई बातोंकी बराबरी दिखलाते हैं अर्थात् जो क्षमा करने करानेमें उद्यत है उसको कांजी गर्म जल देना चाहिये और फिर उसीको यह शिक्षा देना चाहिये ॥५८॥

आगे—क्रमसे पांचों अतिचारोंके त्याग करानेकी शिक्षा देते हैं—

प्रतिपत्तौ सजन्नस्यां मा शंस स्थास्नु जीवितं ।
भ्रांत्या रम्यं बहिर्वस्तु हास्यः को नायुराशिषा ॥५९॥

अर्थ—हे आराधक! निर्यापकाचार्य और बड़े बड़े साधु आदि जो तेरी सेवा कर रहे हैं, बड़े बड़े ऋद्धिधारी पुरुष तेरा आदर सत्कार कर रहे हैं तेरा गौरव बढ़ा रहे हैं परंतु तू इस दिखनेवाले सेवा सुश्रूषा आदिमें आसक्त होकर अपने अधिक जीवित रहनेकी आशा मत कर। क्योंकि यह बाह्य वस्तु केवल भ्रमसे ही तुझे आत्माके प्रसन्न करनेवाली दिखती है। तथा "मैं और अधिक समयतक जीवित रहूं" इसप्रकार जीवनकी आशा करनेवाले पुरुषकी लौकिककी परीक्षा करनेवाला भला कौन पुरुष हंसी नहीं करता? भावार्थ—जीवनकी आशा करनेवालेकी सब लोग हंसी करते हैं इसलिये जीवनकी आशा कभी नहीं करनी चाहिये। इसप्रकार इस जीविताशंसा नामक प्रथम अतिचारका स्वरूप दिखलाकर उसके त्याग करनेका उपदेश दिया। इसीप्रकार आगेके अतिचारोंमें भी समझ लेना चाहिये ॥५९॥

परिग्रहभयादाशु मरणे मा मतिं कृथाः ।
दुःखं सोढा निहंत्यंहो ब्रह्म हंति मुमूर्षुकः ॥६०॥

अर्थ—हे आराधक! घोर क्षुधा आदि वेदनाओंके भयसे शीघ्र मरनेकी भी इच्छा मत कर, क्योंकि असंक्लेश परिणामोंसे दुःखोंको सहन करनेवाला पुरुष अशुभ कर्मोंके आस्रवको रोकता हुआ पहिले इकट्ठे किये हुये पापोंको नष्ट करता है, और बुरीतरह मरनेकी इच्छा करनेवाला पुरुष मोक्ष अथवा ज्ञानको नष्ट कर देता है। भावार्थ—मरनेकी इच्छा करनेवाला आत्मघातक है इसलिये वह संसारमें दीर्घकालतक परिभ्रमण करता है। तथा समता परिणामोंसे दुःखोंको सहन करनेवाला पाप और कर्मोंको नष्टकर शीघ्र ही मुक्त होता है। इसलिये शीघ्र मरनेकी इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये। इसप्रकार यह दूसरा अतिचार त्याज्य बतलाया ॥६०॥

सहपांसुक्रीडितेन स्वं सख्या मानुरंजय ।
ईदृशैर्बहुशो भुक्तैर्मोहदुर्ललितैरलं ॥६१॥

अर्थ—हे आराधक! बालक अवस्थामें धूल मिट्टी आदिसे साथ साथ खेलनेवाले मित्रोंके साथ आपको अनुरागरूप मत कर अर्थात् उन्हें देखकर प्रसन्न मत हो अथवा उनसे अनुराग मत कर! क्योंकि मोहनीयकर्मके उदयसे होनेवाले ऐसे पापोंको बढ़ानेवाले मित्रोंसे राग करने वा उनका स्मरण करनेरूप परिणाम इस संसारमें अनेकवार प्राप्त हुये हैं। अब तू परलोकको जानेके लिये उद्यमी

हुआ है इसलिये अब उन्हें समाप्तकर अर्थात् अब किसीसे अनु-राग मत कर ॥६१॥

मासमन्वाहर प्रीतिविशिष्टे कुत्रचित्स्मृतिं ।
वासितोऽक्षसुखैरेव बंभ्रमीति भवे भवी ॥६२॥

अर्थ—हे आराधक ! तूने चक्षुरादिक इंद्रियोंके द्वारा जिन वस्तुओंका अनुभव किया है जो जो वस्तु पहिले तुझे आनंदित करती थीं, प्रेम बढ़ाती थीं उनका तू अब स्मरण मत कर अर्थात् "मैंने ऐसी ऐसी सुंदर स्त्रियां देखी हैं वा आलिंगन की हैं" इत्यादि रूपसे पहिले भोगे हुये भोगोंका स्मरण मत कर। यदि उनका स्मरण हो आया हो तो उसको निवारण कर। क्योंकि यह जीव इंद्रियोंके सुखोंका दृढ संस्कार करके ही जन्ममरणरूप संसारमें बड़ी कुटिलतासे परिभ्रमण करता है। केवल आत्मज्ञानका ऐसा संस्कार है जिससे इसको परिभ्रमण नहीं करना पड़ता। इसलिये इंद्रियोंके सुखोंका संस्कार छोड़कर आत्मज्ञानमें लीन हो। यह चौथे सुखा-नुबंध नामके अतिचारका त्याग प्रतिपादन किया ॥६२॥

माकांक्षीर्भाविभोगादीन् रोगादीनिव दुःखदान् ।
वृणीते कालकूटं हि कः प्रसाद्येष्टदेवतां ॥६३॥

अर्थ—हे आराधक ! भोगादिक इष्ट विषय रोगोंके समान दुःख देनेवाले हैं। जैसे ज्वरादिक व्याधिसे इष्टवियोग आदिका दुःख होता है उसीप्रकार भोगोंसे अंतमें दुःख ही होता है क्योंकि संसारके भोग क्षणभंगुर हैं उनके नष्ट होते समय वियोगजन्य दुःख अवश्य ही होता है तथा भोगोंसे रोगादि उत्पन्न होकर दुःख होता

है । इसलिये जैसे कोई दुःख देनेवाले रोगोंकी इच्छा नहीं करता उसीप्रकार तू भी अत्यंत दुःख देनेवाले ऐसे आगामी कालमें होनेवाले भोगोंकी तथा आदि शब्दसे आज्ञा ऐश्वर्य आदिकोंकी इच्छा मत कर, अर्थात् इस तपके प्रभावसे मेरे भोगादिक हों ऐसी अभिलाषा मत कर । क्योंकि जिसने अभिलत फलके देनेवाला देव अथवा देवी प्रसन्न अर्थात् वरदान देनेके सन्मुख करली है वह ऐसा कौन पुरुष है जो उस देव अथवा देवीसे प्राण हरण करनेवाले विषकी प्रार्थना करे? भावार्थ—निदान करना प्रसन्न हुये देवतासे विष मांगनेके समान है इसलिये सल्लेखना अथवा अन्य तपोंको धारणकर उनसे निदान कभी नहीं करना चाहिये ॥६३॥

आगे—क्षपकके चारों प्रकारके आहारके त्याग करनेकी विधि दो श्लोकोंमें कहते हैं—

> इति व्रतशिरोरत्नं कृतसंस्कारमुद्वहन् ।
> खरपानक्रमत्यागात्प्रायेऽयमुपवेक्ष्यति ॥६४॥
> एवं निवेद्य संघाय सूरिणा निपुणेक्षिणा ।
> सोऽनुज्ञातोऽखिलाहारं यावज्जीवं त्यजेत् त्रिधा ॥६५॥

अर्थ—जो व्याधि देश आदि तत्त्वोंको बड़ी सूक्ष्म रीतिसे बार बार देखता रहता है अर्थात् जो क्षपककी व्याधि, देश, काल, बल, समता परिणामोंका बल, परिषह सहन करनेकी योग्यता, संवेग और वैराग्य आदिको अत्यंत सूक्ष्म रीतिसे विचार करता रहता है ऐसे निर्यापकाचार्यको उचित है कि वह पहिले चारों प्रकारके संघको यह निवेदन करे या बतलावे कि इस क्षपकको जो शुद्ध जलका भी

क्रमसे धीरे धीरे त्याग कराया है उस क्रमके अनुसार किये हुये त्यागसे यह क्षपक चारोंप्रकारके आहार त्याग करनेमें भी निश्चल वा दृढप्रतिज्ञावाला बना रहेगा, चलायमान नहीं होगा। इसप्रकार संघ से निवेदनकर उस क्षपकसे चारों प्रकारके आहार त्याग करनेकेलिये कहे। तदनंतर 'प्रतिपत्तौ सजन्नस्यां' इत्यादि इसी अध्यायके उनसठवें श्लोकसे लेकर कितने ही श्लोकोंमें कहे अनुसार जिसका दृढ संस्कार कर दिया गया है और जिससे समस्त व्रत सफल होते हैं इसलिये ही जो चूडामणि रत्नके समान समस्त व्रतोंके ऊपर सुशोभित है ऐसे सल्लेखनाव्रतको उत्कृष्ट रीतिसे धारण करते हुये उस क्षपकको निर्यापकाचार्यकी आज्ञानुसार **मन वचन काय तीनों तरहसे मरणपर्यंत चारों प्रकारके आहारका त्याग कर देना चाहिये।** इसकी विधि इसप्रकार है " त्यक्षति सर्वाहारं यावज्जीवं निरंबरस्त्रिविधं। निर्यापकसूरिपरः संघाय निवेदयेदेवं ॥१॥ क्षपयति यः क्षपकोऽसौ पिंडं तस्येति संयमधनस्य। दर्शयितव्यं नीत्वा संघावसथेषु सर्वेषु ॥ २ ॥" अर्थात् " यह दिगंबर क्षपक मन वचन काय तीनों तरहसे सब तरहके आहारोंका त्याग करेगा इसप्रकार निर्यापकाचार्य सब संघसे निवेदन करे। जो पिंड अर्थात् शरीर और आहारका त्याग करे उसे क्षपक कहते हैं। ऐसा संयम धनको धारण करनेवाला क्षपक सब संघको सन्मुखकर दिखाना चाहिये। भावार्थ—संघकी आज्ञा लेकर उससे आहारपानीका त्याग कराना चाहिये ॥६४—६९॥

इसप्रकार कठिन परिषहोंकी बाधाओंको सहन करनेवाले क्षप—

कको चारों प्रकारके आहार त्याग करनेका उपदेश दिया। अब आगे इसप्रकारकी सामर्थ्य रहित क्षपककेलिये केवल पानी रखनेकी प्रतिज्ञा और शेष तीनों प्रकारके आहार त्याग करनेका उपदेश देते हुये चारों प्रकारके आहार त्याग करनेका समय बतलाते हैं—

> व्याध्याद्यपेक्षयांभो वा समाध्यर्थं विकल्पयेत् ।
> भृशं शक्तिक्षये जह्यात्तदप्यासन्नमृत्युकः ॥६६॥

अर्थ—अथवा व्याधि आदिकी अपेक्षासे अर्थात् गर्मी आदिकी अधिक व्याधि देखकर समाधिमें निश्चल होनेके लिये उस क्षपकको गुरुकी आज्ञानुसार केवल पानी पीनेकी प्रतिज्ञा रख लेनी चाहिये। भावार्थ—यदि कोई पित्तकी व्याधि हो, वा गर्मीके दिन हों, अथवा मारवाड आदि गर्म देश हो अथवा अपनी पित्त प्रकृति हो वा और भी ऐसे ऐसे कारण हों कि जिनसे तृष्णा परिषहोंकी तीव्रताको वह सहन नहीं कर सकता तो गुरुकी आज्ञासे उसे "मैं केवल पानी रखता हूं" ऐसी प्रतिज्ञा करनी चाहिये पानीको छोड़कर और सबका त्याग कर देना चाहिये। तथा जब मृत्युका समय अति समीप आ जाय और शक्ति अत्यंत क्षय हो जाय तो उससमय उसे जलका भी त्याग कर देना चाहिये ॥६६॥

आगे—क्षपकके मरनेके समय उसके उपकार करनेवाले संघके अवश्य करने योग्य कर्तव्य कहते हैं—

> तदाखिलो वर्णिनुख्यसमाहितक्षमणो गणः ।
> तस्याविघ्नसमाधानसिद्ध्यै दद्यात्तनूत्सृतिं ॥६७॥

अर्थ—उस समय सब संघको " आप हमारे जिसकिसीतरह किये हुये अपराधोंको क्षमा कीजिये हम भी आपके किये हुये अपराधोंको क्षमा कर देते हैं इसप्रकार उस ब्रह्मचारीके मुखसे क्षमा कराकर तथा स्वयं क्षमाकर जिसने चारों प्रकारके आहारका त्याग कर दिया है ऐसे क्षपकको किसी तरहका उपसर्ग न हो उसकी आराधनायें सिद्ध हो जायं अर्थात् उसकी समाधि निर्विघ्न सिद्ध हो इसलिये उसे कायोत्सर्ग कराना चाहिये। भावार्थ—उससे क्षमा कराकर कायोत्सर्ग कराना चाहिये यह संघका मुख्य कर्तव्य है। 'एवं निवेद्य संघाय' ऐसा जो इसी अध्यायके ६५वें श्लोकमें कहा था उसीको यहांपर विशेषरूपसे दिखलाया है ॥६७॥

आगे—इसप्रकार आराधनाकी पताका ग्रहण करनेको उद्यमी हुये क्षपकके लिये निर्यापकोंको क्या क्या करना चाहिये सो कहते हैं—

ततो निर्यापकाः कर्णे जपं प्रायोपवेशिनः ।
दद्युः संसारभयदं प्रीणयंतो वचोऽमृतैः ॥६८॥

अर्थ—ऊपर कहे हुये करने योग्य समस्त कार्य कर चुकनेके बाद समाधिकी विधिको करानेवाले निर्यापकोंको उचित है कि वे संन्यास धारण करनेवाले क्षपकको अमृत समान वचनोंसे संतुष्ट कर उसके कानमें संवेग और वैराग्य उत्पन्न करनेवाला जप दें। भावार्थ—उसके कानमें संसारसे भय उत्पन्न करानेवाला उपदेश दें ॥६८॥

आगे—आगेके श्लोकोंमें आचार्यका कार्य और आराधकके लिये शिक्षा कहते हैं—

मिथ्यात्वं वम सम्यक्त्वं भजोर्जय जिनादिषु ।
भक्तिं भावनमस्कारे रमस्व ज्ञानमाविश ॥६९॥

अर्थ—भो आराधक! अब तू विपरीत श्रद्धानरूप मिथ्यात्वका त्याग कर, तत्त्वार्थश्रद्धानरूप सम्यक्त्वका चिंतवन कर, अरहंत, आदि पांचो परमेष्ठियोंमें, उनकी प्रतिमाओंमें, व्यवहार रत्नत्रय तथा निश्चयरत्नत्रयमें अपनी भक्तिको अत्यंत दृढ कर, भावनमस्कार अर्थात् अरहंत परमेष्ठीके गुणोंको प्रीतिपूर्वक चिंतवन करनेमें प्रेम धारण कर, और बाह्य तथा अध्यात्म तत्त्वज्ञानका उपयोग कर अर्थात् ज्ञानमें तल्लीन हो जा ॥६९॥

महाव्रतानि रक्षोच्चैः कषायान् जय यंत्रय ।
अक्षाणि पश्य चात्मानमात्मनात्मनि मुक्तये ॥७०॥

अर्थ—तथा हे आराधक! तू महाव्रतोंका पालन कर, क्रोधादि कषायोंको अत्यंत निग्रह कर अर्थात् उनके जीतनेमें अपने आप प्रयत्न कर! तथा स्पर्शन आदि इंद्रियोंको अपने अपने विषयोंमें जानेसे रोक, और संसारके सुखोंके लिये नहीं किंतु केवल मोक्ष प्राप्त करनेके लिये अपने आत्माको अपने ही आत्माके द्वारा अपने आत्मामें ही अवलोकन कर ॥ ७० ॥

आगे—दो श्लोकोंमें मिथ्यात्वके नाश करनेके कारणोंको स्पष्ट रीतिसे दिखलाते हैं—

अधोमध्योर्द्धलोकेषु नाभून्नास्ति न भावि च ।
तद्दुःखं यन्न दीयेत मिथ्यात्वेन महारिणा ॥ ७१ ॥

अर्थ—अधोलोक अर्थात् मेरुपर्वतसे नीचे सातों भूमियोंमें,

मध्यलोक अर्थात् जंबूद्वीपसे लेकर स्वयंभूरमणसमुद्रपर्यंत तिर्यक्लोकमें और उर्द्धलोक अर्थात् मेरुकी चूलिकासे लेकर तनुवातवलयपर्यंत लोकमें ऐसा कोई दुःख न हुआ, न है और न होगा कि जो इस जीवको परम शत्रुरूप मिथ्यात्वके द्वारा न पहुं-चाया जाता हो मिथ्यात्वरूप शत्रुके रहते हुये ही बाह्य अभ्यंतर शत्रु अपकार कर सकते हैं। इसलिये समस्त अपकार वा दुःखोंका कारण एक मिथ्यात्व ही है।

संघश्रीर्भावयन् भूयो मिथ्यात्वं वंदकाहितं ।
धनदत्तसभायां द्राक् स्फुटिताक्षोऽभ्रमद्भवं ॥ ७२ ॥

अर्थ—महाराज धनदत्तके मंत्री संघश्रीने वंदक नामके अपने गुरुके द्वारा पुनः आरोपित किये हुये मिथ्यात्वका वार वार चिंतवन किया था अंतकरणमें उसका अभ्यास किया था इसलिये उसके नेत्र उसके स्वामी महाराज धनदत्तकी सभामें ही फूट गये थे, इतना ही नहीं किंतु मरकर उसने संसारमें बहुत दिनतक परिभ्रमण किया था यह एक मिथ्यात्वका ही फल था। यह कथा तथा और भी सब कथायें कथाकोश आदि शास्त्रोंसे जान लेनी चाहिये। हमने ग्रंथ बढ़ जानेके भयसे यहां नहीं लिखी हैं ॥ ७२ ॥

आगे—दो श्लोकोंमें सम्यक्त्वको उपकारकपना दिखलाते हैं—

अधोमध्योर्द्धलोकेषु नाभून्नास्ति न भावि वा ।
तत्सुखं यन्न दीयेत सम्यक्त्वेन सुबंधुना ॥७३॥

अर्थ—अधोलोक मध्यलोक और ऊर्द्धलोकमें ऐसा कोई सुख

न हुआ न है और न होगा जो परम बंधु सम्यक्त्वके द्वारा न पहुंचाया जाता हो । यह सम्यक्त्व सब जगह सर्वकालमें समस्त प्राणियोंका उपकारक है, समस्त विघ्नोंका प्रतिबंधक है इसलिये इसको बंधुकी उपमा दी है ॥७३॥

प्रहासितकुदृग्बद्धश्वभ्रायुः स्थितिरेकया ।
दृग्विशुध्यापि भविता श्रेणिकः किल तीर्थकृत् ॥७४॥

अर्थ—राजा श्रेणिक पहिले मिथ्यादृष्टि था, अपने गाढ़ मिथ्यात्वके कारण उसने सातवें नरककी तेतीस सागरकी आयुका बंध किया था परंतु जब काललब्धि और उसकी रानी चेलनाकी सहायतासे शुद्ध सम्यक्त्व प्राप्त किया तो उसके प्रभावसे उसकी नरककी स्थिति भी घट गई । शास्त्रका सिद्धांत है कि बंधा हुआ आयुबंध नहीं छूटता किंतु शुभाशुभ कषायोंके द्वारा उसकी स्थितिमें वृद्धि हानि होती रहती है । इस सिद्धांतके अनुसार उस शुद्ध सम्यक्त्वके होनेसे उसके आयुकर्मकी स्थिति तेतीस सागरसे घटकर प्रथम नरककी मध्यम चौरासी हजार वर्षकी रह गई थी । इतना ही नहीं किंतु विनयसंपन्नता आदि अन्य कारणोंके विना केवल एक सम्यक्त्वके ही होनेसे वह वहांसे निकलकर तीर्थंकर होगा । अपि आश्चर्य प्रकाशक है अर्थात् आश्चर्य है कि तीर्थंकर नामकर्मके लिये जो दर्शनविशुद्धि आदि सोलह कारण माने हैं उनमेंसे श्रेणिकके केवल एक दर्शनविशुद्धिसे ही तीर्थंकर प्रकृतिका बंध हुआ ? ॥७४॥

आगे—दो श्लोकोंमें अरहंतभक्तिकी महिमा दिखलाते हैं—

एकैवास्तु जिने भक्तिः किमन्यैः स्वेष्टसाधनैः ।
या दोग्धि कामानुच्छिद्य सद्योऽपायानशेषतः ॥७५॥

अर्थ—हे सुविहित (उत्तम आचरण करनेवाले) साधो ! तेरे एक केवल श्री जिनेंद्रदेवमें भक्ति वा अंतरंगका प्रेम होना सबसे उत्तम है, जिनभक्तिके सिवाय अन्य अनेक इच्छानुसार सिद्धियोंके उपायोंसे क्या प्रयोजन है ? क्योंकि विना जिनभक्तिके कोई कार्य सिद्ध नहीं हो सकते । विना जिनभक्तिके अन्य सब कारण मिथ्या वा आभासरूप जान पडते हैं । एक जिनभक्ति ही ऐसी है कि जो स्वर्ग मोक्षादिसे भ्रष्ट करनेवाले समस्त अपायोंको शीघ्र ही अर्थात् उत्पन्न होनेके अनंतर ही चारों ओरसे नष्ट कर समस्त मनोरथोंको पूर्ण कर देती है । इसलिये हे साधो ! एक जिनभक्तिको ही धारण कर ॥७५॥

वासुपूज्याय नम इत्युक्त्वा तत्संसदं गतः ।
द्विदेवारब्धविघ्नोऽभूत्पद्मः शक्रार्चितो गणी ॥७६॥

अर्थ—मिथिलाधिपति राजा पद्मने जब श्रीवासुपूज्यके समवसरणमें जानेके लिये गमन किया तब दो देवोंने जो कि धन्वंतरि और विश्वानुलोमके जीव थे मार्गमें " काले सर्प होकर मार्ग खंडन करना, काक बनकर कांव कांव करना आदि अनेक विघ्न किये थे, उनका यह अभिप्राय था कि यह समवसरणमें न जाने पावे । तथापि राजा पद्म 'वासुपूज्याय नमः' अर्थात् 'वासुपूज्यस्वामीके लिये नमस्कार हो' ऐसा उच्चारण करते ही उनके समवसरणमें पहुंच गया और वहां जाकर दीक्षा लेकर इंद्रादिकोंसे पूज्य ऐसा गणधरदेव हुआ ।

यह सब जिनभक्तिका ही माहात्म्य था। इसलिये हे साधो! गाढ़ जिनभक्ति धारण कर ॥७६॥

आगे—दो श्लोकोंमें भावनमस्कारकी महिमा दिखलाते हैं—

> एकोऽप्यर्हन्नमस्कारो भवश्चेन्मरणे विशत्।
> संपाद्याभ्युदयं मुक्तिश्रियमुत्कयति द्रुतं ॥७७॥

अर्थ—यदि मरणसमयमें एक भी श्री अरहंत भगवानका नमस्कार चित्तमें प्राप्त हो जाय तो वह स्वर्गादिके समस्त अभ्युदय वा बड़ी बड़ी ऋद्धियां देकर शीघ्र ही मोक्षलक्ष्मीको उत्कंठित करता है। भावार्थ—मरते समय एकवार भी अरहंतदेवको नमस्कार करनेसे उसके अगले भवमें अथवा दो तीन भवमें ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है ॥७७॥

> स णमो अरहंताणमित्युच्चारणतत्परः।
> गोपः सुदर्शनीभूय सुभगाह्वः शिवं गतः ॥७८॥

अर्थ—आगममें प्रसिद्ध ऐसे सुभग नामके ग्वालियेने णमो अरहंताणं अर्थात् अरहंतदेवको नमस्कार हो ऐसा एकाग्रचित्तसे उच्चारण किया था उसीसे वह मरकर सुदर्शन नामका वृषभदास सेठका पुत्र हुआ था। उसने बहुत सुंदर रूप पाया था और सम्यग्दर्शन भी प्राप्त किया था और अंतमें उसी भवसे वह मुक्त हुआ था। इसलिये हे साधो! अरहंतदेवको नमस्कार करनेमें तू भी अपना चित्त लगा ॥ ७८ ॥

आगे—तीन श्लोकोंमें ज्ञानोपयोगकी महिमा दिखलाते हैं—

स्वाध्यायादि यथाशक्ति भक्तिपीतमनाश्चरन् ।
तात्कालिकाद्भुतफलादुदर्के तर्कमस्यति ॥७९॥

अर्थ—हे आराधक ! जिसका चित्त भक्तिसे अनुरक्त हुआ है ऐसा जो पुरुष अपने बल और वीर्यको नहीं छिपाकर **स्वाध्याय वंदना प्रतिक्रमण** आदि मुनियोंके नित्य करने योग्य आचरणोंका अनुष्ठान करता है उसको स्वाध्याय आदि करते समय ही अद्भुत इष्ट सिद्धि होती है । तथा इस इष्ट सिद्धिरूपफलसे "शास्त्रोंमें जो स्वाध्यायादि करनेसे अद्भुत फल मिलना कहा है वह मुझे मिलेगा या नहीं" इसप्रकार उत्तर फलमें होनेवाले समस्त संदेह दूर हो जाते हैं । क्योंकि संसारमें दृष्टसे अदृष्टका निश्चय होता है अर्थात् प्रत्यक्ष सुख दुःखादिकोंसे स्वर्ग नरकादिके परोक्ष वा परभवमें होनेवाले सुख दुःखादि फलोंका अनुमान किया जाता है। जब स्वाध्यायादिसे ऋद्धियां आदि प्रत्यक्ष फल मिलते हैं तो उनसे परभवमें मिलनेवाले फलोंमें भी निश्चय हो जाता है ॥७९॥

शूले प्रोतो महामंत्रं धनदत्तार्पितं स्मरन् ।
दृढशूर्पो मृतोऽभ्येत्य सौधर्मात्तमुपाकरोत् ॥८०॥

अर्थ—जिससमय दृढशूर्प नामक चोरको राजाने शूलीपर लटकाया था उससमय धनदत्त शेठने उसको पंच नमस्कार मंत्र दिया था । वह चोर उस मंत्रका चिंतवन करता हुआ ही प्राणांत होगया, और मरकर उस मंत्रके प्रभावसे सौधर्म स्वर्गमें बडी ऋद्धिका धारी महर्द्धिक देव हुआ । एक समय वहांके राजाने शेठ धनदत्तपर कुछ उपसर्ग किया था उससमय उस महर्द्धिक देवने सौधर्म स्वर्ग-

से आकर शठका उपसर्ग दूर किया तथा और भी अनेक प्रकारके आदरसत्कार कर उनका उपकार किया था। इसलिये हे साधो! तू भी पंच नमस्कार मंत्रका चिंतवन कर, क्योंकि इसका चिंतवन करना उत्कृष्ट स्वाध्याय है ॥८०॥

खंडश्लोकै स्त्रिभिः कुर्वन् स्वाध्यायादि स्वयं कृतैः ।
मुनिनिंदाप्तमौर्ख्योऽपि यमः सप्तर्द्धिभूरभूत् ॥८१॥

अर्थ—हे आराधक! देख, राजा यम राज छोड़कर साधु होनेपर भी मुनियोंकी निंदा करनेसे मूर्खताको प्राप्त हुआ था तथापि उसने अपने बनाये हुये तीन खंड श्लोकोंसे स्वाध्यायादि किया था इसलिये "वुद्धि तवो विय रिद्धि विउव्वणरिद्धी तहेव ओसहिया। रसवल अक्खीणा वि य रिद्धीओ सत्तपण्णत्ता" अर्थात् "बुद्धिऋद्धि, तपऋद्धि विक्रियाऋद्धि, औषधिऋद्धि, रसऋद्धि, बलऋद्धि और अक्षीणऋद्धि ये सात ऋद्धियां हैं" इस श्लोकमें कही हुई सात ऋद्धियां उसे प्राप्त हुई थीं। इसलिये हे आराधक! तू भी स्वाध्यायादि करनेमें तत्पर हो। वे खंड श्लोक ये हैं— "कड्ढसि पुण णिक्खेवसि रे गद्दहा जव पच्छेसि खादिदुं ॥१॥ अणत्थं किं पलोवहइ तुम्हि इत्थ णिवुद्धिया छिद्दे अच्छइ कोणिया ॥२॥ अम्हादो णत्थि भयं दीहादो दीसदे भयं तुम्हा ॥३॥ अर्थात्—हे गर्दभ! तू अपना कंधा निकालता है और फिर उसमें डालता है तू खानेके लिये जौ देखता है ॥१॥ अरे निर्बुद्धि! तू दूसरी जगह क्या देखता है इस छिद्रमें ही कोणिका है ॥२॥ इस दीर्घ पर्या-

यसे अथवा इस बड़े मंत्रसे मुझे कुछ भय नहीं है केवल तुझे ही भय दिखती है ॥३॥ ॥८१॥

आगे—दो श्लोकोंमें अहिंसा और हिंसाका माहात्म्य कहते हैं—

> अहिंसाप्रत्ययि दृढं भजन्नोजायते रुजि ।
> यस्त्वध्यहिंसासर्वस्वे स सर्वाः क्षिपते रुजः ॥८२॥

अर्थ—जो जीव थोड़ीसी अहिंसाको भी गाढ़ रीतिसे सेवन करता है वह उपसर्ग आदि पीड़ा उपस्थित होनेपर भी तेजस्वीके समान जान पड़ता है, अर्थात् वह दुःखोंसे तिरस्कृत नहीं होता। तथा जो समस्त अहिंसामें अधीश्वर होता है अर्थात् पूर्ण अहिंसाका पालन करता है वह समस्त दुःखोंको दूर कर देता है ॥८२॥[1]

> यमपालो ह्रदेऽहिंसन्नेकाहं पूजितोऽप्सुरैः ।
> धर्मस्तत्रैव मेंढ्रघ्नः शिशुमारैस्तु भक्षितः ॥८३॥

अर्थ—बनारस नगरमें रहनेवाले यमपाल नामक चांडालने एक चतुर्दशीके दिन हिंसा न करनेकी प्रतिज्ञा ली थी उसके प्रभावसे वह शिशुमार सरोवरमें जलदेवतासे पूजित हुआ था और धर्म नामके शेठके पुत्रने राजाके मेंडेका वध किया था इसलिये वह उसी शिशुमार सरोवरमें मत्स्य आदि जलचर जीवोंके द्वारा भक्षण

१ बहुत प्रयत्न करनेपर भी इन खंड श्लोकोंका पूरा अभिप्राय समझमें नहीं आया। ऊपर जो अर्थ लिखा है वह संस्कृतटीकाकी टिप्पणीमें जैसा था वैसा ही लिख दिया है और वह मूलसे बराबर मिलता भी है।

किया गया था इसलिये हे आराधक! तू भी अहिंसाव्रतका चिंतवन कर ॥८३॥

आगे—दो श्लोकोंमें असत्यसे होनेवाले अपायोंको कहते हैं—

मा गां कामदुघां मिथ्यावादव्याघ्रोन्मुखीं कृथाः ।
अल्पोऽपि हि मृषावादः श्वभ्रदुःखाय कल्पते ॥८४॥

अर्थ—हे क्षपक! कामधेनु गौके समान समस्त मनोरथोंको पूर्ण करनेवाली वाणीको कामधेनु गौके समान सत्य वचनोंका संहार करनेवाले असत्यवचनरूपी वाघके सन्मुख मत कर, अर्थात् अपनी वाणीको मिथ्यावादके सन्मुख मत कर। भावार्थ—मिथ्यावाद वा असत्यवचनोंका त्याग कर क्योंकि थोड़ासा असत्य वचन भी नरकमें होनेवाले अनेक दुःखोंका कारण होता है। भावार्थ—असत्य वा झूठका त्याग कर सत्यव्रतका पालन कर। ॥८४॥

अजैर्यष्टव्यमित्यत्र धान्यैस्त्रिवार्षिकैरिति ।
व्याख्यां छागैरिति परावर्त्यागान्नरकं वसुः ॥८५॥

अर्थ—राजा वसुने अज अर्थात् तीन वर्षके पुराने धानोंसे यज्ञ करना चाहिये इस अर्थको वदलकर अज अर्थात् मेड़ वकरेसे यज्ञ करना चाहिये ऐसा अर्थ किया था। इसलिये उसे नरक जाना पड़ा। भावार्थ—क्षीरकदंव गुरुके पास नारद और पर्वत दोनों साथ साथ पढ़ते थे, पर्वत क्षीरकदंवका पुत्र था, उन्हींके साथ राजपुत्र वसु भी पढ़ता था। क्षीरकदंवने तीनों शिष्योंको "अजैर्यष्टव्यं" इसका यह अर्थ पढ़ाया था कि जो सचित्त न हो

अथवा जो उत्पन्न न हो सकें ऐसे तीन वर्षके पुराने धानोंको अज कहते हैं। शांतिक पौष्टिक आदि यज्ञोंमें अन्नोंसे होम करना चाहिये। क्षीरकदंवके स्वर्गवास होनेपर एक दिन पर्वत और नारदमें विवाद उपस्थित हुआ। पर्वतका कहना था कि भेड़ बकरेका नाम अज है और नारद तीन वर्षके पुराने धानोंको अज कहता था। जब दोनोंका विवाद परस्पर न मिट सका तो दोनों क्षीरकदंवकी स्त्रीके पास पहुंचे, क्षीरकदंवकी स्त्री दोनोंका पक्ष सुनकर समझ गई कि नारदका कहना सत्य है, तथापि पुत्रके मोहसे उसके हृदयमें पाप उत्पन्न हुआ और प्रकाशमें दोनोंसे कहा कि तुम्हारा न्याय कल दिन राजा वसुकी सभामें होगा। दोनोंने यह बात स्वीकार कर ली और वे दोनों अपने अपने काममें लग गये। इधर क्षीरकदंवकी स्त्री वसुके पास पहुंची, वसुने प्रणामकर आसन दिया और आनेका कारण पूछा। उसने दोनों शिष्योंके विवाद सुनाये और कहा कि यद्यपि नारदका पक्ष सत्य और प्रवल है तथापि आज तुमसे मैं गुरुदक्षिणामें यह मांगती हूं कि किसी तरह पर्वतका पक्ष प्रवल हो। राजाको यह बात स्वीकार करनी पड़ी। राजा वसु उससमय सिंहासनारूढ़ हो चुका था, उसने एक स्वच्छ स्फटिकका सिंहासन वनवाया था जो कि लोगोंको दिखाई नहीं पड़ता था। वह सभामें उसीपर बैठा करता था और लोगोंको विश्वास जमा दिया था कि मैं सत्यके प्रतापसे अधर बैठता हूं। दूसरे दिन जब राजसभामें विवाद पहुंचा तो सभामें वसुने पर्वतका कहना

सत्य बतलाया, और कहा कि गुरुजीने ऐसा ही अर्थ बतलाया था। इतना कहा ही था कि अकस्मात् वह सिंहासन सहित पृथ्वीमें धसक गया, और उसीसमय मरकर नरक पहुंचा। इसलिये हे भव्योत्तम! तू भी असत्यका सर्वथा त्याग कर ॥८९॥

आगे—दो श्लोकोंमें स्तेयको कहते हैं।—

आस्तां स्तेयमभिध्यापि विध्याप्याग्निरिव त्वया ।
हरन् परस्वं तदसून् जिहीर्षन् स्वं हिनस्ति हि ॥८६॥

अर्थ—हे समाधिमरणकी इच्छा करनेवाले आराधक! परधनका हरण करना तो दूर ही रहो अग्निके समान संताप करनेवाली परधनके ग्रहण करनेकी इच्छा भी शांत करनी चाहिये। क्योंकि जो विना दिये परद्रव्यको ग्रहण करता है वह उसके प्राणोंको हरण करनेकी इच्छा करता है, और जो परप्राणोंको हरण करनेकी इच्छा करता है वह अवश्य ही अपने आत्माका घात करता है। भावार्थ—जो दूसरेका धन चुराना चाहता है उसके उस धनीके प्राणोंके घात करनेकी इच्छा अवश्य होती है तथा परघातकी इच्छा होना ही आत्माकी हिंसा है क्योंकि परमार्थसे परघातकी इच्छाको ही हिंसा कहते हैं। भावहिंसाके होते हुये जो द्रव्यहिंसा होती है वही अनंत संसारके दुरंत दुःखोंको देनेवाली होती है ॥८६॥

रात्रौ मुषित्वा कौशांबीं दिवा पंचतपश्चरन् ।
शिक्यस्यस्तापसोऽधोऽगात्तलारकृतदुर्मृतिः॥८७॥

अर्थ—एक तापसी ऐसा था जो दूसरेकी भूमिको स्पर्श करनेके भयसे लटकते हुये छींकेपर रहता था। वह तापसी रात्रिमें

कौशांवी नगरीमें रहनेवाले लोगोंका धन चुराया करता था और दिनमें पंचाग्निसाधन तप किया करता था। अंतमें कोतवालने उसे पकड़ा तथा उसीके हाथसे रौद्रध्यानपूर्वक उसका मरण हुआ और मरकर नरक पहुंचा। इसलिये तू भी चोरीको सर्वथा छोड़ और अचौर्यव्रतमें लीन हो ॥८७॥

आगे—ब्रह्मचर्यको दृढ़तासे पालन करनेके लिये कहते हैं—

पूर्वेऽपि बहवो यत्र स्खलित्वा नोद्गताः पुनः ।
तत्परं ब्रह्म चरितुं ब्रह्मचर्यं परं चरेत् ॥८८॥

अर्थ—हे आराधक! पूर्वकालमें रुद्र आदि अनेक मुनि ऐसे हो गये हैं कि जो ब्रह्मचर्यसे स्खलित होकर अर्थात् उसमें अतिचार लगाकर फिर उसमें अपने आत्माको लीन न कर सके। अपि शब्दसे जब पूर्वकालके मुनि ही स्खलित होकर उस ब्रह्ममें लीन न हो सके तब वर्तमान समयके मुनि आदिकी तो बात ही क्या है। इसलिये तू भी उत्कृष्ट निर्विकल्प प्रत्यग्ज्योतिरूप ब्रह्मज्ञानके अनुभव करनेके लिये अर्थात् स्वात्माके द्वारा शुद्ध आत्माका संवेदन करनेके लिये चौथे परम ब्रह्मचर्यव्रतको निरतिचार धारण कर ॥८८॥

आगे—परिग्रहत्यागव्रतको दृढ़ करनेके लिये कहते हैं—

मिथ्येष्टस्य स्मरन् श्मश्रुनवनीतस्य दुर्मृतेः ।
मोपेक्षिष्ठाः क्वचिद्ग्रंथे मनो मूर्च्छन्मनागपि ॥८९॥

अर्थ—हे सुविहितसाधो! मिथ्या मनोरथोंके तूल बांधनेवाले और रौद्रध्यानपूर्वक मरण करनेवाले श्मश्रुनवनीतका स्मरण कर "यह

मेरा है यह मेरा है" इसप्रकार किसी भी परिग्रहमें थोड़ा भी संकल्प करनेवाले मनका विश्वास मत कर। भावार्थ—मनको किसी भी परिग्रहमें मत लगा, समस्त परिग्रहका त्याग कर ॥८९॥

आगे—निश्चयनयसे निर्ग्रंथ प्राप्तिके लिये कहते हैं—

बाह्यो ग्रंथोऽगमक्षाणामांतरो विषयैषिता ।
निर्मोहस्तत्र निर्ग्रंथः पांथः शिवपुरेऽर्थतः ॥९०॥

अर्थ—यह शरीर बाह्य परिग्रह है और स्पर्शनादि इंद्रियोंके विषयोंमें अभिलाषा रखना अंतरंग परिग्रह है। जो साधु इन दोनों परिग्रहोंमें ममत्व परिणाम नहीं रखता है परमार्थसे वही परिग्रह-रहित गिना जाता है। तथा वही निर्वाण नगर वा मोक्षमें पहुंचनेके लिये पांथ अर्थात् नित्य गमन करनेवाला माना जाता है। इसका भी कारण यह है कि मोक्षमार्गमें निरंतर गमन करनेके लिये निर्ग्रंथकी ही सामर्थ्य है ॥९०॥

आगे—कषाय और इंद्रियोंकी हानियोंका स्मरण कराते हुये कहते हैं—

कषायेंद्रियतंत्राणां तत्त्वादृग्दुःखभागितां ।
परामृशन्मास्म भव संशितव्रत तद्वशः ॥९१॥

अर्थ—हे संशितव्रत! अर्थात् महापुरुषोंने भी जिसके व्रतोंकी स्तुति की है ऐसे साधो! कषाय और इंद्रियोंके परतंत्र रहनेवाले मनुष्योंके क्लेशोंका अनुभव जो छठे अध्यायमें निरूपण किया है उसको स्मरण करके कषाय और इंद्रियोंके परतंत्र मत हो ॥९१॥

इसप्रकार व्यवहार आराधनाकी निष्ठा दिखलाकर अब निश्चय आराधनामें तत्पर होनेके लिये दो श्लोक कहते हैं—

श्रुतस्कंधस्य वाक्यं वा पदं वाक्षरमेव वा ।
यत्किंचिद्रोचते तत्रालंब्य चित्तलयं नय ॥९२॥

अर्थ—हे व्यवहार आराधनामें परिणत होनेवाले आराधकराज ! इस समय तेरी शक्ति क्षीण हो गई है इसलिये श्रुतस्कंध अर्थात् आचारांगादि बारह अंग, सामायिक प्रकीर्णक आदि अंगबाह्य-संबंधी बाह्य अथवा अध्यात्म वाक्य अथवा णमो अरहंताणं इत्यादि पद अथवा अर्हं आदि अक्षर वा अ,सि,आ,उ,सा, आदिमेंसे कोई अक्षर इनमेंसे जिसमें तेरा अनुराग हो, उसी एकको आलंबनकर, उसमें अपना चित्त लगा अर्थात् अपने चित्तको तन्मय कर । इस श्लोकमें तीन वा शब्द दिये हैं वे तीनों ही वाक्य पद और अक्षरोंकी समानता सूचित करते हैं । भावार्थ—श्रुतस्कंधके वाक्य, पद और अक्षरोंमेंसे जिसमें तेरी रुचि हो उसीमें चित्त लगा क्योंकि यह निश्चित सिद्धांत है कि भक्तिपूर्वक चिंतवन करनेसे तीनोंमें ही परमार्थके आराधन करनेकी सामर्थ्य है । अक्षरमेव यहांपर एव स्वयोग्यव्यवस्थापक है अर्थात् इन तीनोंमेंसे अपनी इच्छानुसार चिंतवन करनेके लिये सूचित करता है ॥९२॥

शुद्धं श्रुतेन स्वात्मानं गृहीत्वार्य स्वसंविदा ।
भावयंस्तल्लयापास्तचिंतो मृत्वैहि निर्वृतिं ॥९३॥

अर्थ—हे आराधन करनेमें तत्पर आर्य ! "एगो मे सासदो

औदा " इत्यादि श्रुतज्ञानसे निश्चयकर राग द्वेष मोह रहित चिद्रूपमय अपने आत्माको स्वसंवेदन द्वारा अनुभव करता हुआ अपने आत्मामें तन्मयरूप होनेसे समस्त चिंता अर्थात् संकल्पविकल्पोंको अथवा मनके चिंतवनको दूरकर प्राणोंको छोड़ मोक्षको गमन कर। भावार्थ—यदि संकल्पविकल्परहित शुद्ध आत्मामें लीन होकर प्राण त्याग करेगा तो अवश्य मोक्ष प्राप्त होगी। लिखा भी है— " आराधनोपयुक्तः सन् सम्यक्कालं विधाय च। उत्कर्षात्त्रिभवान् गत्वा प्रयाति परिनिर्वृतिं। " अर्थात् " जो पुरुष आराधनामें अपना उपयोग लगाकर अच्छीतरह समय व्यतीत करता है वह अधिकसे अधिक तीन भवोंमें अवश्य मुक्त हो जाता है ॥९३॥

आगे—परमार्थ संन्यासका उपदेश देकर ऊपर लिखे अर्थको समर्थन करते हैं—

संन्यासो निश्चयेनोक्तः सहि निश्चयवादिभिः ।
स्वस्वभावे च विन्यासो निर्विकल्पस्य योगिनः ॥९४॥

अर्थ—जो निर्विकल्प योगी अर्थात् जिसके अंतःकरणसे भीतर ही भीतर कुछ कहना, किसी तरहका संबंध अथवा उत्प्रेक्षा करना आदि सब निकल गये वा दूर होगये है ऐसा समाधि सहित योगी जो अपने शुद्ध चिदानंदमय स्वात्मामें विधिपूर्वक अपने आत्माको स्थापन करता है उसको व्यवहार नयकी अपेक्षा रखकर निश्चयनयके प्रयोग करनेमें चतुर ऐसे आचार्य निश्चयनयसे संन्यास

१ पहिले अध्यायके दूसरे श्लोकमें देखो।

कहते हैं अर्थात् निश्चय नयसे यही संन्यास है ऐसा मोक्षकी इच्छा करनेवाले लोगोंके सामने निरूपण करते हैं ॥९४॥

आगे—कदाचित् परिषहादिकसे क्षपकका चित्त विचलित हुआ हो तो निर्यापकाचार्यको क्या करना चाहिये सो कहते हैं—

परिषहोऽथवा कश्चिदुपसर्गो यदा मनः ।
क्षपकस्य क्षिपेज्ज्ञानसारैः प्रत्याहरेत्तदा ॥९५॥

अर्थ—जिससमय क्षुधा आदि परिषहोंमेंसे कोई परिषह अथवा कोई अचेतनादिका किया हुआ उपसर्ग क्षपकके चित्तको इधर उधर भ्रमण करावे तो उससमय निर्यापकाचार्यको श्रुतज्ञानके रहस्योंका उपदेश देकर उसके चित्तको उस परिषह अथवा उपसर्गसे हटाकर शुद्ध स्वात्माके सन्मुख कराना चाहिये ॥९५॥

अब—आगेके श्लोकोंमें श्रुतज्ञानके रहस्योंको विस्तारसे कहते हैं—

दुःखाग्निकीलैराभीलै र्नरकादिगतिष्वहो ।
तप्तस्त्वमंगसंयोगाज्ज्ञानामृतसरोऽविशन् ॥९६॥

अर्थ—हे भव्योत्तम ! तूने ज्ञानरूपी अमृतके सरोवरमें अर्थात् 'शरीर अन्य है मैं अन्य हूं' इत्यादि भेदज्ञानरूपी अमृतके सरोवरमें अवगाहन नहीं किया, इस शरीरको अपना माना, इसलिये इस अपने माने हुये शरीरके संबंधसे नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगतियोंमें प्रतिकार रहित शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे उत्पन्न हुये दाहकी ज्वालाओंसे तू संतप्त हुआ है ॥९६॥

इदानीमुपलब्धात्मदेहभेदाय साधुभिः ।
सदानुगृह्यमाणाय दुःखं ते प्रभवेत्कथं ॥९७॥

अर्थ—परंतु अब तुझे शरीर और आत्माका भेद निश्चित हो चुका है, तथा ये मुनिलोग तेरा सदा उपकार कर रहे हैं। इसलिये अब तुझे दुःख किसप्रकार हो सकेगा? भावार्थ—अब परिषह आदि तुझे किसीप्रकार भी दुःख नहीं दे सकते ॥९७॥

> दुःखं संकल्पयंति स्वे समारोप्य वपुर्जडाः ।
> स्वतो वपुः पृथक्कृत्य भेदज्ञाः सुखमासते ॥९८॥

अर्थ—बहिरात्मा जीव आत्मामें शरीरका आरोपणकर अर्थात् शरीरको ही आत्मा मानकर 'मैं दुःखी हूं, रोगी हूं' इत्यादि दुःखोंका संकल्प कर लेते हैं। क्योंकि वास्तवमें रोगादि दुःख शरीरको ही होते हैं आत्माको नहीं। तथा इसीप्रकार जो आत्मा और शरीरको भिन्न भिन्न जाननेवाले हैं वे आत्मासे शरीरको भिन्न जानकर सुखसे रहते हैं अर्थात् अपने आत्माके साक्षात् दर्शनसे उत्पन्न हुये आनंदका अनुभव करते रहते हैं। आत्मा और शरीरमें भेदभावना इसप्रकार चिंतवन करनी चाहिये "न मे मृत्युः कुतो भीति र्न मे व्याधिः कुतो व्यथा। नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले।" अर्थात् "मेरी मृत्यु तो कभी होती नहीं इसलिये मुझे भय किसका? मुझे कुछ व्याधि वा रोग तो होता ही नहीं फिर व्यथा वा दुःख ही कैसा? तथा न मैं बालक हूं न बूढा हूं और न जवान हूं क्योंकि मृत्यु, व्याधि, बालकपन, बुढ़ापा और जवानी आदि सब पुद्गलमें पाये जाते हैं, आत्मामें नहीं। अथवा 'जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्यः' अर्थात् "चेतनादिगुणविशिष्ट जीव अन्य पदार्थ हैं और रूप रस आदि सहित पुद्गल अन्य पदार्थ हैं इत्यादि

भावनाओंसे शरीर और आत्माको भिन्न भिन्न चिंतवन करना चाहिये ॥९८॥

परायत्तेन दुःखानि बाढं सोढानि संसृता ।
त्वयाद्य स्ववशः किंचित्सहेच्छन् निर्जरां परां ॥९९॥

अर्थ—हे भव्य ! कर्मोंके परवश होकर तूने इस अनादि संसारमें अनेक दुःख सहन किये हैं। आज तू समाधिके सिद्ध करनेमें उद्यत हुआ है इसलिये इस मृत्यु समयमें उत्कृष्ट अथवा संवरके साथ होनेवाली अथवा जो पहिले कभी प्राप्त नहीं हुई थी ऐसी अंतिम समयमें होनेवाली अशुभ कर्मोंके क्षयरूप निर्जराकी इच्छा करनेवाला तू स्वतंत्र होकर समता परिणामोंसे थोड़ी देरतकका यह कुछ थोड़ासा दुःख सहन कर ॥९९॥

यावद्गृहीतसंन्यासः स्वं ध्यायन् संस्तरे वसेः ।
तावन्निहन्याः कर्माणि प्रचुराणि क्षणे क्षणे ॥१००॥

अर्थ--जितने कालपर्यंत तूने संन्यास धारण किया है अर्थात् आहारादिका त्याग किया है और एकाग्रतासे स्वात्माका चिंतवन करता हुआ सांतरेपर बैठा है वा निवास कर रहा है उतने कालपर्यंत तू क्षण क्षणमें ज्ञानावरणादि अनेक कर्मको अवश्य ही नष्ट करेगा ॥१००॥

पुरुप्रायान् बुभुक्षादि परीषहजये स्मर ।
घोरोपसर्गसहने शिवभूतिपुरःसरान् ॥१०१॥

अर्थ—हे आराधक ! भूख प्यास आदि परिषहोंके जय करने वा जितनेमें, श्रीवृषभदेव आदिकोंका स्मरण कर अर्थात्

प्रथम तीर्थंकर होकर भी वृषभदेवको छह महिनेतक भूख प्यास आदि परिषह सहन करनी पड़ी थीं उनको स्मरणकर तू भी परिषहोंको जीत, और घोर उपसर्गोंके सहन करनेमें शिवभूति आदिकोंका स्मरण कर ॥१०१॥

तृणपूलबृहत्पुंजे संक्षोभ्योपरिपातिते ।
वायुभिः शिवभूतिः स्वं ध्यात्वाभुदाशु केवली ॥१०२॥

अर्थ—एकवार तीव्र वायुके चलनेसे घास फूंसके बड़े समूह में (घास और भुसकी गंजीमें) अग्नि लगी थी और वह जलती हुई गंजी उसी वायुसे उड़कर श्री शिवभूति मुनिके ऊपर आपडी थीं परंतु वे मुनि उससे किंचित् भी चलायमान नहीं हुये थे और अपने आत्माका ध्यानकर शीघ्र ही केवलज्ञानी हुये थे। यह अचेतनके द्वारा किये हुये उपसर्गके सहन करनेका दृष्टांत है ॥१०२॥

न्यस्य भूषाधियांगेषु संतता लोहशृंखलाः ।
द्विट्पक्षैः कीलितपदाः सिद्धा ध्यानेन पांडवाः ॥१०३॥

अर्थ—पांडवोंके शत्रु कौरवोंके भानजोंने पांडवोंके कंठ आदि प्रदेशोंमें आभूषणोंकी कल्पना करके अर्थात् हम तुमको ये सुवर्णके आभूषण आदि पहनाते हैं ऐसा कहकर अग्निमें जलती हुई लोहेकी संकले पहनाई थीं और उनके पैरोंमें बड़े २ लोहेके कीलें ठोंककर (जोकि पैरमें होकर जमीनके भीतरतक चले गये थे) उनको कीलित कर दिया था, तथापि वे महामुनि उस उपसर्गसे कुछ भी चलायमान नहीं हुये थे और शुद्ध स्वात्माका ध्यानकर मोक्ष पधारे थे। युधिष्टर, भीम और अर्जुन तो साक्षात्

सिद्ध हुये थे और नकुल सहदेव सर्वार्थ जाकर परंपरासे सिद्ध हुये थे अर्थात् वहांसे सर्वार्थसिद्धि गये और वहांसे आकर फिर सिद्ध होंगे यह मनुष्योंके द्वारा किये हुये उपसर्गके सहन करनेका दृष्टांत है ॥१०३॥

शिरीषसुकुमारांगः खाद्यमानोऽतिनिर्दयं ।
शृगाल्या सुकुमारोऽसून् विससर्ज न सत्पथं ॥१०४॥

अर्थ—स्वामी सुकुमालका शरीर सरसोंके फूलके समान अत्यंत कोमल था परंतु वह एक शृगालिनीने अत्यंत निर्दयतासे भक्षण किया था तथापि उन महामुनिने प्राण छोड़ दिये परंतु अपने आत्माका ध्यानस्वरूप मोक्षका उपाय नहीं छोड़ा था। यह तिर्यंचके द्वारा किये हुये उपसर्गके सहन करनेका उदाहरण है ॥१०४॥

तीव्रदुःखैरतिक्रुद्धभूतारब्धैरितस्ततः ।
भग्नेषु मुनिषु प्राणानौज्झद्विद्युच्चरः स्वयुक् ॥१०५॥

अर्थ—एक वनमें अनेक मुनि तपश्चरण कर रहे थे वहीं पर विद्युच्चर मुनि भी तपश्चरण करते थे। एकवार किसी भूतने अर्थात् नीच व्यंतरने कारणवश अत्यंत क्रोधित होकर उन सब मुनियोंको अत्यंत असह्य दुःख दिया था जिससे सब मुनि इधर उधर भाग गये थे परंतु विद्युच्चरने वहींपर आत्मामें लीन होकर अपने प्राण छोड़ दिये थे। यह देवोंके द्वारा किये हुये उपसर्गके सहन करनेका उदाहरण है ॥१०५॥

अन्येऽनृतिर्यग्देवोपसृष्टासंक्लिष्टमानसाः ।
सुसत्त्वा बहवोऽन्येऽपि किल स्वार्थमसाधयन् ॥१०६॥



अर्थ—शास्त्रोंमें शिवभूति आदिसे अन्य भी ऐसे अनेक धैर्यशाली पुरुष सुननेमें आते हैं जो पृथिवी आदि अचेतन पदार्थ, मनुष्य, तिर्यंच और देवोंके द्वारा किये हुये उपसर्गोंसे संक्लेश परिणामी नहीं हुये थे अर्थात् जिनके हृदयमें राग द्वेष मोहका आवेश नहीं हुआ था, वे केवल शुद्ध स्वात्मध्यानमें ही निमग्न रहे थे और इसप्रकार उन्होंने अपना मोक्षरूप स्वार्थ सिद्ध किया था ॥१०६॥

तत्त्वमप्यंगसंगत्य निःसंगेन निजात्मना ।
त्यजांगमन्यथा भूरि भवक्लेशैर्ग्लपिष्यसि ॥१०७॥

अर्थ—हे अंग! हे महात्मन्! भगवान शिवभूति आदि मोक्षकी इच्छा करनेवाले महानुभावोंने अनेक घोर उपसर्ग आदि रहते हुये भी अपना मोक्षरूपी इष्ट पदार्थ सिद्ध किया था। इसलिये तू भी कर्म रहित नित्य चिद्रूप ऐसे अपने आत्मासे संयुक्त होकर अर्थात् अपने शुद्ध आत्मामें तल्लीन होकर इस शरीरको छोड़ दे। यदि इसप्रकार शरीरका त्याग न कर संक्लेश परिणामोंसे त्याग करेगा तो तू संसारके अनेक दुःखोंसे बहुत दिनतक व्याकुल रहेगा। कहा भी है " विराद्धे मरणे देव दुर्गतिर्दूरबोधिता। अनंतश्चापि संसारः पुनरप्यागमिष्यति ॥" अर्थात् " यदि संक्लेश आदि परिणामोंसे मरणका विघात हो जायगा अर्थात् यदि मरणसमयमें संक्लेश परिणाम हो जायंगे तो नरकादि दुर्गति तो दूर रहो यह अनंत संसार फिर उसके सामने आजायगा अर्थात् फिर उसे अनंत संसार परिभ्रमण करना पड़ेगा ॥१०७॥

श्रद्धा स्वात्मैव शुद्धः प्रमदवपुरुपादेय इत्यांजसी दृक्
तस्यैव स्वानुभूत्या पृथगनुभवनं विग्रहादेश्च संवित् ।
तत्रैवात्यंततृप्त्या मनसि लयमितेऽवस्थितिः स्वस्य चर्या
स्वात्मानं भेदरत्नत्रयपर परमं तन्मयं विद्धि शुद्धं ॥१०८॥

अर्थ—हे रत्नत्रयको भिन्न माननेवाले अर्थात् व्यवहाररत्नत्रयको प्रधान रीतिसे आराधन करनेवाले उत्तम आराधक ! यह द्रव्यभावकर्मरहित आनंदस्वरूप अपना आत्मा ही मोक्षकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंको उपादेय वा ग्रहण करने योग्य है । दूसरेका आत्मा उपादेय नहीं है, इसप्रकारकी श्रद्धाका नाम ही पारमार्थिक वा निश्चय सम्यग्दर्शन है । तथा स्वसंवेदनरूप ज्ञानसे उसी शुद्ध आनंदमय उपादेयस्वरूप स्वात्माको मन वचन काय तीनोंसे शरीरसे भिन्न वा पृथक् अनुभव करनेका नाम निश्चय सम्यग्ज्ञान है, और अत्यंत तृप्त वा तृष्णारहित होकर उसी शुद्ध आनंदस्वरूप अनुभूत स्वात्मामें अपना अंतःकरण तन्मय हो जानेपर उसी स्वात्मामें स्वात्माकी जो अवस्थिति वा रहना है उसको पारमार्थिक चर्या वा निश्चय चारित्र कहते हैं। लिखा भी है "दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः । स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बंधः।" अर्थात् "अपने आत्माका निश्चय होना ही सम्यग्दर्शन है अपने आत्माका न ज्ञा होना ही सम्यग्ज्ञान है और अपने ही आत्मामें स्थिर होजाना सम्यक्चारित्र है । इसप्रकार जब ये तीनों ही आत्मस्वरूप हैं तब फिर भला इनसे बंध कैसे हो सकता है अर्थात् कभी नहीं" इसलिये व्यवहार रत्नत्रयको प्रधान माननेवाले आराधक! तू भी अपने आत्माको

निश्चयरत्नत्रयस्वरूप परम उत्कृष्ट और अत्यंत शुद्ध जान अर्थात् तू भी ऐसे शुद्ध अपने आत्माका अनुभव कर ॥१०८॥

मुहुरिच्छामणुशोऽपि प्रणिहत्य श्रुतपरां श्रुतद्रव्ये ।
स्वात्मनि यदि निर्विघ्नं प्रतपसि तदसि ध्रुवं तपसि ॥१०९॥

अर्थ—हे आराधक ! यदि तू बार बार श्रुतज्ञान भावनामें परिणत होता हुआ पुद्गलादि परद्रव्योंमें लगी इस थोडीसी भी आकांक्षाको अच्छीतरह अवश्य अवश्य नाश करके विना किसी विघ्नके स्वात्मामें दैदीप्यमान होगा अर्थात् परद्रव्यकी आकांक्षा छोड़कर केवल स्वात्मामें लीन होगा तो तू निश्चय ही मोक्षके साक्षात् से कारण ऐ तपमें निर्विघ्न स्फुरायमान होगा। इन दो श्लोकोंमें ग्रंथकारने चारप्रकारकी निश्चय आराधनाओंका स्वरूप कहा है। पहिले श्लोकमें निश्चयसम्यग्दर्शन आराधना, निश्चय सम्यग्ज्ञान आराधना और निश्चयसम्यक्चारित्र आराधनाका स्वरूप कहा है, और इस श्लोकमें सम्यक्तप आराधनाका स्वरूप कहा है ऐसा जानलेना चाहिये ॥१०९॥

आगे—निर्यापकाचार्य व्यवहार और निश्चय आराधनाओंके सिद्ध करनेसे क्षणभरमें ही परमानंदकी प्राप्ति होगी ऐसा आशीर्वाद देकर क्षपकका उत्साह बढाते हुये कहते हैं—

नैराश्यारब्धनैः संग्यसिद्धसाम्यपरिग्रहः ।
निरुपाधिसमाधिस्थः पिबानंदसुधारसं ॥११०॥

अर्थ—हे सुविहितशिरोरत्न ! अर्थात् समाधिरूपी चूडा-मणिको धारण करनेवाले ! अब तू जीवित धन आदिकी आकांक्षाको

निग्रह करनेसे अंतरंग और बाह्यपरिग्रहसे रहित होकर समता वा परम सामयिकरूप परिग्रहसे सुशोभित हुआ है अर्थात् परम सामयिकमें लीन हुआ है । इसलिये ध्याता, ध्यान, ध्येय आदि विकल्पोंसे रहित निर्विकल्प समाधिमें निमग्न होकर आनंदरूपी अमृतका पान कर ॥११०॥

आगे—इस अध्यायमें कहे हुये समस्त अर्थका उपसंहार करते हुये आराधना सहित मरण करनेसे आराधकको क्या विशेष फल मिलता है उसका उपदेश देते हैं—

संलिख्येति वपुःकषायवदलंकर्मीणनिर्यापकः
न्यस्तात्मा श्रमणस्तदेव कलयंल्लिंगं तदीयं परः ।
सद्रत्नत्रयभावनापरिणतः प्राणान् शिवाशाधरः
त्यक्त्वा पंचनमस्क्रियास्मृति शिवी स्यादष्टजन्मांतरे ॥१११॥

अर्थ—जो संसाररूपी समुद्रसे तारनेके लिये समर्थ है उसको अलंकर्मीण कहते हैं, जो अलंकर्मीण होकर निर्यापक है उसको अलंकर्मीण निर्यापक कहते हैं, वह व्यवहार नयसे सुस्थित आचार्य है, निश्चयनयसे शुद्ध स्वात्मानुभूति परिणामके सन्मुख आत्मा ही अलंकर्मीण निर्यापक है, क्योंकि ऐसा आत्मा ही सुख देनेवाले कर्मोंको वा अन्य कारणोंको अपने आत्मासे अलग कर सकता है ; लिखा भी है " स्वस्मिन् सदभिलषित्वादभीष्टज्ञायकत्वतः। स्वयं हित प्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः । " अर्थात् यह आत्मा सदा अपनेमें ही अभिलाषा करता रहता है, सदा अभीष्ट पदार्थोंको जानता है और अपना हित करनेमें सदा तत्पर रहता है, इसलिये यह

आत्माही आत्माका गुरु है " इसप्रकार निश्चय नयसे अपने शुद्ध आत्माके लिये और व्यवहारसे निर्यापकाचार्यके लिये जिसने अपना आत्मा समर्पण कर दिया है, जिसने वही पहिले कहा हुआ औत्सर्गिक वा जिनरूपता लिंग (निर्ग्रंथ वा दिगंबरपना) धारण किया है, जिसकी श्रमण संज्ञा है और जो यथासंभव गुणस्थानोंमें होनेवाले निश्चय रत्नत्रयके अभ्याससे योगियोंको अंतिम समयमें होनेवाले समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती नामके शुक्लध्यानमें आरूढ हुआ है ऐसा मोक्षकी इच्छा करनेवाला मुमुक्षु पुरुष बाह्य और आभ्यंतर तपके द्वारा ऊपर लिखे अनुसार कषायके समान ही शरीरको अर्थात् कषाय और शरीर दोनोंको कृषकरके प्राणोंको छोड़कर परम मुक्त होता है। यह कथन उत्कृष्ट आराधना करनेवालेकी अपेक्षासे किया गया है। मध्यम आराधना करनेवालेकी अपेक्षासे इसप्रकार करना चाहिये कि श्रमण वा अनगार मुनि मोक्षकी इच्छा करता हुआ निर्ग्रंथ आदि चिन्हको धारणकर संवरके साथ होनेवाले पापकर्मोंकी निर्जरा करनेमें समर्थ ऐसे रत्नत्रयके अभ्यास करनेमें परिणत वा लीन होता हुआ प्राणोंको छोड़कर शिद्धि अर्थात् इंद्रादिपदोंके अभ्युदयसे सुशोभित होता है। शेष व्याख्यान पहिलेके समान ही जान लेना चाहिये। तथा इस वर्तमान कालमें होनेवाले जघन्य आराधकोंकी अपेक्षा इसप्रकार व्याख्यान करना चाहिये कि ऊपर लिखे हुये लक्षणों सहित श्रमण पंचनमस्कार मंत्रका चिंतवन वा उच्चारण करता हुआ प्राणोंको छोड़कर आठ भवोंके मध्यमें ही मुक्त हो जाता है।

उत्कृष्ट मध्यम और जघन्य रीतिसे आराधना करनेवालोंकी भिन्नता शास्त्रोंमें इसप्रकार कही है—

कालाई लहिऊणं छित्तूणं अट्ठकम्मसंखल्यं ।
केवलणाणपहाणी केई सिज्झंति तम्मि भवे ॥१॥

अर्थ—कितने ही ऐसे आराधक हैं जो काललब्धि पाकर अष्टकर्मोंकी श्रृंखलाको नष्टकर केवलज्ञानसे प्रधान होकर उसी भवमें सिद्ध होते हैं। ये उत्कृष्ट आराधक हैं।

आराहिऊण केई चउव्विहाराहणाइ जं सारं ।
उव्वरिय सेस पुण्णो सव्वट्ठणिवासिणो होंति ॥२॥

अर्थ—कितने ही ऐसे आराधक हैं जो चारप्रकारकी आराधनाओंको साररूपसे आराधनकर बचे हुये पुण्यसे सर्वार्थसिद्धिमें निवास करते हैं। भावार्थ—ऐसे मध्यम आराधक दो भवोंमें मुक्त होते हैं।

जेसिं होज जहण्णा चउव्विहाराहणा हु भवियाणं ।
सत्तट्ठ भवे गंतुं ते विय पावंति णिव्वाणं ॥ ३ ॥

अर्थ—जो जघन्यरीतिसे चारों प्रकारकी आराधनाओंको आराधन करते हैं वे सात आठ भव बिताकर मुक्त होते हैं। अथवा—

येऽपि जघन्या तेजोलेश्यामाराधानामुपनयंति ।
तेऽपि च सौधर्मादिषु भवंति देवा सुकल्पस्थाः ॥

अर्थ—जो तेजोलेश्या सहित आराधनाओंका चिंतवन करते हैं वे भी सौधर्मादि स्वर्गोंमें कल्पवासी देव होते हैं। अथवा—

ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण त्रुट्यन् मोहस्य योगिनः ।
चरमांगस्य मुक्तिः स्यात्तदेवान्यस्य च क्रमात् ॥

अर्थ—जो ध्यानके उत्तम अभ्याससे मोहनीयकर्मको नष्ट करते हैं ऐसे चरमशरीरी योगी उसी भवमें मुक्त हो जाते हैं। तथा जो चरमशरीरी नहीं है वे क्रमसे मुक्त होते हैं।

तथाह्यचरमांगस्य ध्यानेमभ्यस्यतः सदा ।
निर्जरा संवरश्च स्यात्सकलाशुभकर्मणः ॥१॥
आस्रवंति च पुण्यानि प्रचुराणि प्रतिक्षणं ।
यैर्महर्द्धिर्भवत्येष त्रिदशः कल्पवासिषु ॥२॥
तत्र सर्वेंद्रियादीनां मनसः प्रीणनं परं ।
सुखामृतं पिबन्नास्ते सुचिरं सुरसेवितः ॥३॥
ततोऽवतीर्य मर्त्येऽपि चक्रवर्त्यादिसंपदः ।
चिरं भुक्त्वा स्वयं मुक्त्वा दीक्षां दैगंबरीं श्रितः ॥४॥
वज्रकायः स हि ध्यात्वा शुक्लध्यानं चतुर्विधं ।
विधूयाष्ट च कर्माणि श्रयते मोक्षमक्षयं ॥५॥

अर्थ—तथा जो चरमशरीरी नहीं है और ध्यानका अभ्यास करते हैं उनके सदा समस्त अशुभ कर्मोंकी निर्जरा और संवर होता रहता है। तथा प्रत्येक क्षणमें ऐसे अनेक पुण्यकर्मोंका आस्रव होता रहता है कि जिनके द्वारा सौधर्मादि स्वर्गोंमें यह कल्पवासी देव होता है। वहांपर अनेक देव इसकी सेवा करते हैं तथा यह वहांपर बहुत दिनतक इंद्रिय और मनको अत्यंत प्रसन्न करनेवाले सुखामृ-तका पान करता हुआ निवास करता है। वहांकी आयु पूर्णकर मनुष्य जन्ममें अवतार लेता है और चक्रवर्ती आदिकी बड़ी भारी संपदाका बहुत दिनतक उपभोग करता रहता है। अंतमें उस संप-

द्राको स्वयं छोड़कर दिगंबरी दीक्षा धारण करता है और वज्रवृषभ-नारांच संहननको धारण करनेवाला यह चारों प्रकारके शुक्लध्या-नोंका चिंतवन कर आठों कर्मोंको नाशकर अविनाशीक मोक्षपद प्राप्त करता है।

यह व्याख्यान मुनियोंके लिये कहा गया है। अब श्रावकोंके लिये 'तदीयं परः' इस वाक्यके व्याख्यानसे बतलाते हैं पर अर्थात श्रावक अथवा अन्य सम्यग्दृष्टी पुरुष उस श्रमणके चिन्हको धारण-कर और निर्ग्रंथ अवस्था धारणकर पंचनमस्कार मंत्रका स्मरण वा उच्चारण करता हुआ प्राणोंको छोड़कर शिवी अर्थात् इंद्रादि पदसे सुशोभित होता है अथवा आठ भवके भीतर मुक्त हो जाता है। शेष व्याख्यान पहिलेके समान करलेना चाहिये। सो ही श्रीसमंत-भद्रस्वामीने कहा है—खरपानहापनामपि कृत्वा कृत्वोपवासमपि शक्त्या। पंचनमस्कारमनास्तनुं त्यजेत्सर्वयत्नेन।" अर्थात्—"शुद्ध जलका भी त्यागकर तथा शक्तिके अनुसार उपवास भी करके चित्तमें पंचनमस्कारमंत्रका चिंतवन करता हुआ सबतरहके यत्नोंसे शरीरका त्याग करे" ॥१११॥ इति भद्रम्।

इसप्रकार पंडितप्रवर आशाधरविरचित स्वोपज्ञ (निजविरचित) सागारधर्मामृतके प्रगट करनेवाली भव्यकुमुदचंद्रिका टीकाके अनुसार नवीन हिंदी भाषानुवादमें धर्मामृतका सत्रहवां और सागारधर्मामृतका आठवां अध्याय समाप्त हुआ।

ग्रंथकर्ताकी प्रशस्ति ।



श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः शाकंभरीभूषण-
स्तत्र श्रीरतिधाम मंडलकरं नामास्ति दुर्गं महत् ।
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वया-
च्छ्रीसल्लक्षणतो जिनेंद्रसमयश्रद्धालुराशाधरः ॥ १ ॥

अर्थ—धर्म अर्थ काम इन पुरुषार्थोंकी संपत्तियोंसे शोभायमान और सांभरकी झील वा सांभरके राज्यसे सुशोभित ऐसा एक सपादलक्ष (कमाऊंके आसपासका देश) देश है उसमें लक्ष्मीकी क्रीड़ा करनेका स्थान ऐसा बहुत बड़ा मंडलकर वा माढ़लगढ़का किला है । उस माढ़लगढ़ शहरमें बघेरवाल जातिके श्री सल्लक्षण वा सलखणसे (यह आशाधरके पिताका नाम है) श्रीरत्नि माताके उदरसे जिनमतकी गाढ़ श्रद्धा रखनेवाले आशाधर उत्पन्न हुये थे ।

सरस्वत्यामिवात्मानं सरस्वत्यामजीजनत् ।
यः पुत्रं छाहडं गुण्यं रंजितार्जुनभूपतिम् ॥ २ ॥

अर्थ—जिसप्रकार सरस्वतीके (शारदाके) विषयमें मैंने अपने आपको उत्पन्न किया उसी प्रकार अपनी सरस्वती नामकी भार्याके गर्भसे अपने अतिशय गुणवान् और मालवदेशके राजा अर्जुनदेव भी मोहित करनेवाला पुत्र छाहडको उत्पन्न किया ॥२॥

व्याघ्रेरवालवरवंशसरोजहंसः काव्यामृतौघरसपानसुतृप्तगात्रः ।
सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षुराशाधरो विजयतां कलिकालिदासः ॥३॥

इत्युदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभिनंदितः प्रीत्या ।
प्रज्ञापुंजोऽसीति च योऽभिमतो मदनकीर्तियतिपतिना ॥ ४ ॥

अर्थ—जो बघेरवालोंके श्रेष्ठवंशरूपी सरोवरसे उत्पन्न हुआ हंस है, काव्यामृतके रससमूहके पीनेसे जिसका हृदय तृप्त है, जो संपूर्ण नयोंका जाननेवाला है और जो श्रीसल्लक्षणका पुत्र है, वह कलियुगका कालिदास आशाधर जयवंत होवे" इसप्रकार इस कविके मित्र ऐसे उदयसेन मुनिने बड़े प्रेमसे जिनका अभिनंदन किया है और मुनिराज मदनकीर्तिने "आप प्रज्ञाके पुंज हैं" ऐसा माना है वे आशाधर—॥३–४॥

म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति–
त्रासाद्विंध्यनरेंद्रदोःपरिमलस्फूर्जत्त्रिवर्गौजसि ।
प्राप्तो मालवमंडले बहुपरीवारः पुरीमावसद्–
यो धारामपठज्जिनप्रमितवाक्शास्त्रं महावीरतः ॥५॥

अर्थ—जिस समय सपादलक्ष शाहाबुद्दीन गौरीने अपने अधिकारमें कर लिया था उससमय सदाचार भंग होनेके भयसे और मुसलमानोंके अत्याचारके डरसे अपने बहुतसे परिवारके साथ सपाद-लक्ष देशको छोड़कर जहां महाराज विंध्यवर्माकी भुजाओंके प्रचंड बलसे तीनों पुरुषार्थोंका साधन अच्छीतरह होता है ऐसे मालव देशमें आ गये थे और वहांकी प्रसिद्ध धारानगरीमें निवास करने लग गये थे वहांपर उन्होंने वादिराज पंडित श्रीमद्धरसेनके शिष्य पंडित महावीरसे जैनेंद्रन्यायशास्त्र और जैनेंद्र व्याकरण पढ़ा था ॥५॥

आशाधर त्वं मयि विद्धि सिद्धं निसर्गे सौंदर्यमजर्यमार्य ।
सरस्वतीपुत्रतया यदेत दर्थे परं वाच्यमयं प्रपंचः ॥ ६ ॥
इत्युपश्लोकितो विद्वद्बिल्हणेन कवीशिना ।
श्रीविंध्यभूपतिमहासांधिविग्रहकेण यः ॥७॥

अर्थ—"हे आशाधर ! हे आर्य ! तुम्हारे साथ मेरा स्वाभाविक सहोदरपना और श्रेष्ठ मित्रपना है क्योंकि जिसप्रकार तुम सरस्वतीके (शारदाके) पुत्र हो उसीप्रकार मैं भी हूं एक उदरसे उत्पन्न होनेवालोंमें मित्रता भाईपना होता ही है" इसप्रकार महाराज विंध्यवर्माके सांधिवैग्रहिक मंत्री (फारेन सेक्रेटरी) कविराज विद्वद्वर्य बिल्हणने जिनकी स्तुति की है ऐसे उन आशाधरने—॥६—७॥

श्रीमदर्जुनभूपालराज्ये श्रावक संकुले ।
जिनधर्मोदयार्थं यो नलकच्छपुरेऽवसत् ॥८॥

अर्थ—श्रीमान् अर्जुनदेव महाराजके राज्यमें श्रावकोंके समूहसे भरे हुये नलकच्छ [नालछा] नगरमें केवल जिनधर्मकी उन्नति करनेके लिये निवास किया था ॥८॥

यो द्राग्व्याकरणाब्धिपारमनयच्छुश्रूषमाणान्नकान्
षट्तर्कीपरमास्त्रमाप्य न यतः प्रत्यर्थिनः केऽक्षिपन् ।
चेरुः केऽस्खलितं न येन जिनवाग्दीपं पथि ग्राहिताः
पीत्वा काव्यसुधां यतश्च रसिकेष्वापुः प्रतिष्ठां न के ॥९॥

अर्थ—शुश्रूषा करनेवाले शिष्योंमेंसे ऐसे पंडित देवचंद्र आदि कौन हैं जिन्हें आशाधरने व्याकरणरूपी समुद्रके

पार शीघ्र ही न पहुंचा दिया हो, तथा वादींद्र विशालकीर्ति आदि ऐसे कौन है जिन्होंने आशाधरसे षट्दर्शनरूपी परम शस्त्रको लेकर अपने प्रतिवादियोंको न जीता हो, तथा भट्टारक देवभद्र विनयभद्र[1] आदि ऐसे कौन हैं जो आशाधरसे निर्मल जिनवचनरूपी (धर्मशास्त्र) दीपक ग्रहण करके मोक्षमार्गमें प्रवृत्त नहीं हुये हों अर्थात् मुनि न हुये हों और वाल सरस्वती महाकवि मदनोपाध्याय आदि ऐसे कौन शिष्य हैं जिन्होंने आशाधरसे काव्यामृतका पान करके रसिक पुरुषोंमें प्रतिष्ठा न पाई हो ॥९॥

स्याद्वादविद्याविशदप्रसादः प्रमेयरत्नाकरनामधेयः ।
तर्कप्रबंधो निरवद्यविद्या पीयूषपूरो वहति स्म यस्मात् ॥१०॥
सिध्यंकं भरतेश्वराभ्युदयसत्काव्यं निबंधोज्ज्वलं
यस्त्रैविद्यकवींद्रमोदनसहं स्वश्रेयसेऽरीरचत् ।
योऽर्हद्वाक्यरसं निबंधरुचिरं शास्त्रं च धर्मामृतं
निर्माय न्यदधान्मुमुक्षुविदुषामानंदसांद्रं हृदि ॥११॥
आयुर्वेदविदामिष्टां व्यक्तुं वाग्भटसंहितां ।
अष्टांगहृदयोद्योतं निबंधमसृजच्च यः ॥१२॥
यो मूलाराधनेष्टोपदेशादिषु निबंधनं ।
विधत्तामरकोशे च क्रियाकलापमुज्जगौ ॥ १३ ॥

अर्थ—स्याद्वाद विद्याका निर्मल प्रसादस्वरूप प्रमेयरत्नाकर नामका न्याय ग्रंथ जो सुंदर पद्यरूपी अमृतसे भरा हुआ है आशाधरके हृदयसरोवरसे प्रवाहित हुआ । भरतेश्वराभ्युदय नामका उत्तम काव्य अपने कल्याणके लिये बनाया, जिसके प्रत्येक सर्गके

१ भट्टारक देवचंद्र और विनयचंद्र ऐसा भी नाम है ।

अंतमें ' सिद्ध ' शब्द रक्खा गया है जो तीनों विद्याओंके जाननेवाले कवींद्रोंको आनंदका देनेवाला है और स्वोपज्ञ टीकासे प्रकाशित है । धर्मामृत शास्त्र जोकि जिनेंद्र भगवानकी वाणीरूपी रससे युक्त है, स्वयं कृत ज्ञानदीपिका टीकासे सुंदर है बनाकर मोक्षकी इच्छा करनेवाले विद्वानोंके हृदयमें अतिशय आनंद उत्पन्न किया । आयुर्वेदके विद्वानोंको प्यारी वाग्भट्टसंहिताकी अष्टांगहृदयोद्योतिनी नामकी टीका बनाई । मूल आराधना और मूल इष्टोपदेश और आदि शब्दसे आराधनासार और भूपाल चतुर्विंशतिका आदिकी उत्तम टीकायें बनाई और अमरकोशपर या-क्रिकलाप नामकी टीका बनाई ॥ १०–१३ ॥

रौद्रटस्य व्यधात्काव्यालंकारस्य निबंधनं ।
सहस्रनामस्तवनं सनिबंधं च योऽर्हतां ॥ १४ ॥
सनिबंधं यश्च जिनयज्ञकल्पमरीरचत् ।
त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रं यो निबंधालंकृतं व्यधात् ॥ १५ ॥
योऽर्हन्महाभिषेकार्चाविधिं मोहतमोरविं ।
चक्रे नित्यमहोद्योतं स्नानशास्त्रं जिनेशिनां ॥ १६ ॥

अर्थ—रुद्रटाचार्य कविके काव्यालंकार ग्रंथकी टीका बनाई, अरहंतदेवका सहस्रनाम स्तोत्र टीका सहित बनाया, जिनयज्ञकल्प वा जिनप्रतिष्ठा शास्त्र सटीक बनाया, त्रिषष्ठिस्मृतिशास्त्र (जिसमें त्रेसठ शलाकाओंका संक्षिप्त जीवनचरित्र है) टीका सहित बनाया और नित्यमहोद्योत नामका अभिषेकका ग्रंथ बनाया जो भगवानकी अभिषेक पूजाविधि संबंधी अंधकारको नाश करनेके लिये सूर्यके समान है ॥ १४–१६ ॥

रत्नत्रयविधानस्य पूजामाहात्म्यवर्णनं ।
रत्नत्रयविधानाख्यं शास्त्रं वितनुते स्म यः ॥१७॥

अर्थ—तथा जिन्होंने रत्नत्रयविधानकी पूजा तथा माहात्म्यका वर्णन करनेवाला रत्नत्रयविधान नामका ग्रंथ बनाया ॥१७॥

सोऽहं आशाधरो रम्यामेतां टीकां व्यरीरचम् ।
धर्मामृतोक्तसागारधर्माष्टाध्यायगोचराम् ॥ १८ ॥
प्रमारवंशवार्धींदुदेवपालनृपात्मजे ।
श्रीमज्जैतुगिदेवेऽसिस्थेम्नावंतीमवत्यलं ॥ १९ ॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
टीकेयं भव्यकुमुदचंद्रिकेत्युदिता बुधैः ॥ २० ॥
षण्णवद्येकसंख्यानविक्रमांकसमात्यये ।
सप्तम्यामसिते पौषि सिद्धेयं नंदताच्चिरं ॥ २१ ॥

अर्थ—ऐसे मैंने (आशाधरने) सागारधर्मामृतकी यह सुंदर टीका बनाई जिसके आठ अध्याय हैं। जब परमार वंश शिरोमणि देवसेन राजाके पुत्र श्रीमान् जैतुगिदेव अपने खड्गके बलसे मालवाका शासन करते थे तब नलकच्छपुर (नालछाके) के नेमिनाथ चैत्यालयमें यह भव्यकुमुदचंद्रिका टीका पौष वदि ७ शुक्रवार सम्वत् १२९६ वि. को पूर्ण हुई। सो यह टीका बहुत दिन तक जयवंती रहे ॥१८–२१॥

श्रीमान् श्रेष्ठिसमुद्धरस्य तनयः श्रीपौरपाटान्वय–
व्योमेंदुः सुकृतेन नदतु महीचंद्रोयदभ्यर्थनात् ।
चक्रे श्रावकधर्मदीपकमिमं ग्रंथं बुधाशाधरो–
ग्रंथस्यास्य च लेखितो मलीभदे येनादिमं पुस्तकं ॥२२॥

अलमिति प्रसंगेन—

यावत्तिष्ठति शासनं जिनपतेश्छेदानमंतस्तमो—
यावच्चार्कनिशाकरौ प्रकुरुतः पुंसां दृशामुत्सवं ।
तावत्तिष्ठतु धर्मसूरिभिरियं व्याख्यायमानानिशं—
भव्यानां पुरतोत्र देशविरताचारप्रबोधोद्धुरा ॥२३॥

इत्याशाधरविरचिता स्वोपज्ञधर्मामृतसागरटीका भव्यकुमुदचंद्रिकानाम्नी समाप्ता ।

अर्थ—जिसकी प्रार्थनासे पंडित आशाधरने यह श्रावकधर्मदीपक ग्रंथ बनाया और जिसने अपने ज्ञानावरण कर्म नष्ट करनेके लिये इसकी पहिली पुस्तक लिखी ऐसा जो पोरवार वंशरूपी आकाशका चंद्रमा और समुद्धर शेठका पुत्र श्रीमान् महीचंद्र है उसके पुण्यकी बढ़वारी हो ।

बहुत कहनेसे क्या—

अंतरंगके अंधकारको नष्ट करनेवाला जिनेंद्रदेवका शासन जबतक रहे और जबतक चंद्र सूर्य लोगोंके नेत्रोंको आनंदित करते रहें तबतक यह श्रावकधर्मका ज्ञान करानेवाली टीका भव्यजनोंके आगे धर्माचार्योंके द्वारा निरंतर पढ़ी जावे ॥२२-२३॥

इसप्रकार निजविरचित भव्यकुमुदचंद्रिका नामकी धर्मामृतसागारकी टीका समाप्त हुई ।

